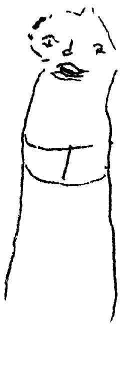
प्रधान - अध्यापिका,

श्री दयानन्द विद्यालय,

(बालिका - विभाग)

माटुंगा - बम्बई, १९



इन्द्रधनुष

[सात सांस्कृतिक एकांकी नाटकों का संग्रह]

लेखक

डा० रामकुमार वर्मा

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रयाग विश्वविद्यालय

राज किशोर प्रकाशन

१८—बी, एडमान्सटन रोड

इलाहाबाद

प्रकाशक
श्री प्रेम कुमार अग्रवाल
राज किशोर प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
१९५६
मूल्य ३)

मुद्रक
श्री बी० पी० ठाकुर
लीडर प्रेस
इलाहाबाद

दो शब्द

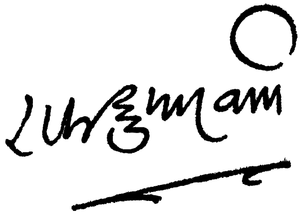
'इन्द्रधनुष' में मेरे सात एकांकी संग्रहीत हैं। इनमें 'समुद्रगुप्त पराक्रमांक', 'राज्य श्री' ऐतिहासिक, 'पृथ्वी का स्वर्ग', 'प्रेम की आँखें' सामाजिक, 'राजरानी सीता' पौराणिक तथा 'कलाकार का सत्य' और 'प्रसाद की कला' साहित्यिक हैं। मनोविज्ञान की गहराइयों में जाकर चरित्र-निर्माण तथा जीवन के विविध आदर्शों में प्रवेश पाना ही इन नाटकों का उद्देश्य रहा है। रंगमंच तथा नाटक के शिल्प की विशेषताएँ भी इन नाटकों में व्यक्त हुई हैं। अधिकांश एकांकी रंगमंच पर सफलतापूर्वक अवतरित हो चुके हैं।

रस और शैली की दृष्टि से इस संग्रह में विविधता है। रेडियो-प्ले, प्रहसन, रूपक अ दि—गंभीर और सामान्य, सभी प्रचलित शैलियों के एकांकी इसमें सम्मिलित हैं।

मेरे प्रिय मित्र डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, एम० ए०, एल०एल० बी०, डी० लिट्, ने इस संग्रह की भूमिका लिख कर मुझे अनुग्रहीत किया है; मैं उनका आभारी हूँ। पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने में अपने प्रिय शिष्य श्री सुरेशचन्द्र अग्निहोत्री, एम० ए०, से मुझे सहायता मिली है, किन्तु उन्हें धन्यवाद देना अनुचित होगा।

मुझे आशा है, मेरे इन नाटकों से हिन्दी पाठकों और विशेष रूप से विद्यार्थियों का हित हो सकेगा।

साकेत
इलाहाबाद—२
मकर-संक्रान्ति, १९५६ ई०



सूची

भूमिका

नाटक का जीवन में स्थान

नाटक साहित्य का साकार-रूप है। वह साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा जन-साधारण के सबसे अधिक निकट है। नाटक में जीवन की वास्तविकता, सौन्दर्य-विधायिनी कल्पना के रंगों से पूर्ण होकर, रंगमंच पर अवतरित होती है, जिससे उसमें जीवन की झलक मिलती है। दर्शक-वर्ग रंगमंच पर ऐसी घटनाएँ घटित होते देखता है, जो उसके जीवन में या तो घटित हो चुकी होती हैं, या उनके घटित होने की संभावना रहती है। वह अपनी समस्याओं का साकार-रूप रंगमंच पर देखता है और उसके परिणाम से लाभ उठाने का यत्न करता है। साहित्य के अन्य अंगों को—कविता, उपन्यास, कहानी आदि को, रंगमंच का यह वरदान प्राप्त नहीं है; इसी कारण साहित्य के अन्य रूप अपना प्रभाव जन-साधारण पर डालने में नाटक की भाँति सफल नहीं हो पाते। प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से नाटक साहित्य का सबसे अधिक सबल माध्यम है।

ऐसा प्रायः देखा जाता है कि युग के वातावरण से नाट्य-साहित्य सबसे अधिक प्रभावित होता है। इलिज़ाबेथ-युगीन शांति और सौख्य, शेक्सपीयर, मार्लो आदि नाटककारों की कृतियों में 'रोमांस' की प्रमुखता का कारण बना। इंगलैण्ड में ही 'रेस्टोरेशन'-युग की विलासिता की छाप ड्राइडन आदि के नाटकों पर है। इसी प्रकार भारतेन्दु-युगीन नव-जागरण का सन्देश नाटक के माध्यम से ही व्यक्त हुआ है।

जिस प्रकार युग का प्रभाव नाटक पर पड़ता है, उसी प्रकार नाटक भी युग की प्रवृत्तियों पर प्रभाव डालता है। नाटक देखते समय हम तन्मय हो जाते हैं और हमें यह बोध ही नहीं होता कि हम वास्तविक घटना देख रहे हैं, अथवा रंगमंच पर अवतरित एक दृश्य। इसी 'तन्मयता' की सृष्टि सच्चे नाटककार का उद्देश्य है। ऐसा भी हुआ है कि एक श्वेत नारी पर अत्याचार होते देख कर एक अमेरिकन दर्शक ने उस पात्र पर, जो स्त्री को कष्ट दे रहा था, गोली चला दी थी। वह यह भूल गया था कि वह नाटक देख रहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नाटक सद्वृत्तियों के प्रसार के लिए एक सफल माध्यम बन सकता है।

आज हमारा देश स्वाधीन हो गया है। हमारा देश नवीन-प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। इस समय हमारे साहित्यकारों का दायित्व भी बढ़ गया है। हमें अब 'रोमैण्टिक' साहित्य की आवश्यकता नहीं है, और न ऐसे साहित्य की, जो सद्वृत्तियों के स्थान पर कुप्रवृत्तियों को उत्तेजित करे। अन्य साहित्यकारों की अपेक्षा नाटककार का उत्तरदायित्व इस समय भी सबसे अधिक महान् है। आज उसे नवजागरण का संदेश, अपने नाटक के माध्यम से, देश के कोने-कोने में फैलाना है, उसका कर्त्तव्य है कि जन-साधारण को, अशिव से शिव की ओर, असत् से सत् की ओर और तम से प्रकाश की ओर ले जावे, उनमें सद्गुणों का बीज वपन करे, और उन्हें राष्ट्र के नव-निर्माण के लिए प्रेरित करे।

नाटक और एकांकी

आज के वैज्ञानिक-युग में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्य से बहुत कम

ही अवकाश मिल पाता है, इसलिए नाटकों की अपेक्षा एकांकी का अभिनय ही अधिकांश स्थलों पर होता है, जिससे कम समय में ही दर्शकगण जीवन के किसी ज्वलंत विषय को रंगमंच पर देख सकें।

एकांकी बड़े नाटक का एक अंश मात्र नहीं है। किसी नाटक का एक अंक एकांकी नहीं कहा जा सकता है। एकांकी अपने आप में पूर्ण होता है, उसमें जीवन की तीव्र अनुभूति परिव्याप्त रहती है, जो थोड़े-से पृष्ठों में अपना समस्त संदेश छिपाए रहती है।

एकांकी और बड़े नाटक में बाह्य दृष्टि से निम्नलिखित अंतर प्रकट होता है :—

(१) एकांकी में केवल एक अंक (और जहाँ तक संभव हो, एक ही दृश्य) होता है और बड़े नाटकों में तीन से सात तक अंक होते हैं।

(२) एकांकी में पात्र नाटक की अपेक्षा कम ही होते हैं। उनके चरित्र की संक्षिप्त रूप-रेखा ही प्रस्तुत की जाती है।

(३) एकांकी में जीवन की एक-रूपता रहती है और नाटकों में विविधता।

(४) कथावस्तु के अनावश्यक अंश एकांकी में नहीं होते, नाटक में हो सकते हैं।

किन्तु गम्भीर दृष्टि से उनमें और अधिक भेद हैं।

(क) एकांकी-कार वर्णनात्मक-शैली में विश्वास नहीं करता है, उसमें व्यञ्जनात्मकता की अधिकता रहती है।

(ख) एकांकी का प्रारम्भ 'कुतूहल' से होता है, किन्तु नाटकों में कुतूहल की स्थिति अनिश्चित रहती है।

(ग) एकांकी में कार्य क्षिप्रगति से बढ़ता है, नाटकों में ऐसा सदैव ही नहीं होता।

(घ) एकांकी में चरम-सीमा एक विन्दु में केन्द्रित हो जाती है, नाटकों में चरम सीमा का विस्तार होता है।

अंतिम दो बातें नाटकों में भी हो सकती हैं।

एकांकी साधारणतः किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लिखा जाता है। एक सामाजिक समस्या मन में चुभ कर लेखक को बाध्य कर देती है, कि वह उसे एकांकी का रूप दे। हिन्दी-साहित्य में ऐसे अनेक एकांकी हैं, जो प्रेम और विवाह, चोरबाजारी और मुनाफ़ाखोरी आदि ज्वलंत समस्याओं का मर्मस्पर्शी और कलात्मक चित्र प्रस्तुत करते हैं।

एकांकी के तत्त्व

एकांकी के लगभग वे ही उपकरण हैं, जो अन्य नाटकों के हैं। एकांकी के लिए भी वस्तु (कथा), पात्र, कथोपकथन, चरमसीमा की आवश्यकता है। महत्त्व की दृष्टि से प्रथम स्थान, पात्र और उसके मनोविज्ञान का है, दूसरा स्थान सम्भाषण या कथोपकथन का, तीसरा स्थान चरमसीमा या 'क्लाइमेक्स' का और चौथा स्थान घटना या वस्तु का है।

इस प्रकार एकांकी में पात्र के मनोविज्ञान का सबसे अधिक महत्व है। कथोपकथन या सम्भाषण तो प्रत्येक नाटक का अनिवार्य तत्त्व है ही। एकांकी में चरमसीमा एक विन्दु में केन्द्रित रहती है, 'चरमसीमा' पर ही श्रेष्ठ एकांकी समाप्त हो जाता है। सत्यदर्शन के बाद उसकी व्याख्या करना हमारी अनुभूति को ठेस पहुँचाता है।

एकांकी का सबसे प्रमुख तत्त्व संकलन-त्रय है। घटना, काल और स्थान, (Unities of Action, Time and Place) का संकलन अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दी के अधिकांश एकांकीकार इस संकलन की उपेक्षा करते हैं और एकांकी में भी अप्रधान प्रसंग और अनावश्यक पात्रों को स्थान देते हैं, परिणाम यह होता है कि उनके एकांकी में दस-बारह दृश्य होते हैं और उन दृश्यों को यदि अंक कहा जाय, तो उनकी कृति महानाटक बन सकती है।

मेरी दृष्टि में लघु कथा की तरह, एकांकी का सर्वप्रमुख अंग 'उद्देश्य' है। डा० रामकुमार वर्मा आदि नाटककार अपनी कृतियों के माध्यम से दर्शकों से कुछ कहना चाहते हैं, यह 'कुछ' एकांकी का महत्त्वपूर्ण अंग है।

अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष

आधुनिक नाटक में संघर्ष का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है; पाश्चात्य विद्वान् उसे नाटक का प्राण मानते हैं। जब यह संघर्ष दो बाह्य परिस्थितियों में होता है तो बाह्य-द्वन्द्व कहा जाता है और जब यह संघर्ष व्यक्ति की दो भावनाओं के बीच होता है, तो उसे अन्तर्द्वन्द्व की संज्ञा दी जाती है। अन्तर्द्वन्द्व मनोविज्ञान के क्रोड़ में पोषित होता है। आज के नाट्य-साहित्य में बाह्य-द्वन्द्व की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व की ही प्रमुखता है। एकांकी में तो यह अन्तर्द्वन्द्व और अधिक तीव्रता के साथ प्रस्तुत किया गया है। अधिकांश एकांकी तो अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण के लिए ही लिखे गये हैं। जीवन के वास्तविक चित्रण के लिए बाह्य द्वन्द्व की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व अधिक महत्त्वपूर्ण है।

एकांकी का वर्गीकरण करते समय विद्वानों ने उन्हें शैली, विषय, मूलवृत्ति आदि को आधार मानकर उनके भेदोपभेद किये हैं; किन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण अनावश्यक-सा है। ऐसा भी होता है कि एक नाटक ऐतिहासिक है, किन्तु उसकी शैली व्यंग्यात्मक है। वस्तुतः उपर्युक्त तीन वस्तुएँ एकांकी के अंग के रूप में स्वीकार की गयी हैं। अपनी सुविधा के लिए हम उन्हें शैली के अनुसार विभिन्न वर्गों में रख सकते हैं। इस वर्गीकरण में किसी प्रकार की पुनरावृत्ति नहीं होगी।

एकांकी की विविध शैलियाँ

डा० नगेन्द्र ने एकांकी के सात भेद माने हैं:—

(१) सुनिश्चित टेकनीक (शिल्प-विधि) वाला एकांकी: जिसमें संकलन-त्रय हो, तो श्रेष्ठ कहा जायगा।

(२) संभाषण या संवाद

(३) मोनोड्रामा (स्वोक्ति-रूपक)

(४) फ़ीचर

(५) फ़ैंटेसी

(६) झाँकी
(७) रेडियो-प्ले

वस्तुतः रेडियो-प्ले कोई अलग से भेद नहीं है। उसकी शैलियाँ गंभीर, सरल, काव्यात्मक या व्यंग्यात्मक हो सकती हैं।

हिन्दी साहित्य में एकांकी

हिन्दी-एकांकी का जन्म और विकास पर विचार करने से पूर्व मैं यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि हिन्दी-एकांकी संस्कृत उपरूपकों के भेदोपभेदों के आधार पर विकसित नहीं हुआ है, इस कारण ऐसी कृतियों को जिनका आधार संस्कृत नाट्य-शास्त्र है, आधुनिक एकांकी का प्रारम्भिक रूप मानना न्याय-संगत न होगा।

हिन्दी के प्रमुख नाटककार स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने सन् १९२९ में 'एक घूंट' एकांकी की रचना की। इसे संस्कृत के 'अंक' का ही एक परिष्कृत और आधुनिक रूपान्तर मानना अधिक उपयुक्त है। इसमें कई दृश्य हैं; चार गीत हैं और परम्परानुसार चँदुला के रूप में विदूषक की भी अवतारणा है। आधुनिक एकांकी की शिल्पयोजना 'एकघूंट' से मेल नहीं खाती। कुछ अन्धानुकरण करने वालों ने 'एकघूंट' को अपना 'मॉडेल' बनाया है; पर उन्हें सफलता नहीं मिल सकी है।

'प्रसाद' के 'एकघूंट' के साथ 'बादल की मृत्यु[1]' एकांकी का नाम आता है। इसकी रचना भी लगभग इसी समय हुई, किन्तु इसका प्रकाशन सन् १९३० में 'विश्वमित्र' में हुआ। 'बादल की मृत्यु' डा० नगेन्द्र के अनुसार एक 'फ़ेंटेसी' है, जो एकांकी की ही एक शैली है। अधिकांश विचारकों ने 'बादल की मृत्यु' को ही 'हिन्दी का प्रथम एकांकी' माना है। इसमें एक ही दृश्य है।

सन् १९३०—३३ के बीच एकांकी के क्षेत्र में कोई विशेष कृति अवतरित न हुई। इस बीच में शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ नाटकों के अभि-

---

१. लेखक : रामकुमार वर्मा ('पृथ्वीराज की आँखें' संग्रह में संग्रहीत है।)

नय की व्यवस्था में भी विकास हुआ। पर विश्वविद्यालयों और कालेजों में बड़े नाटकों के अभिनय की सुविधा न थी, अतएव एकांकी की माँग बढ़ी। रंगमंच पर अवतरित होने वाला हिन्दी का प्रथम एकांकी 'दस-मिनट'[1] है, जिसका अभिनय प्रयाग-विश्वविद्यालय ड्रमैटिक-हाल में अक्तूबर सन् १९३४ में हुआ था।

सन् १९३५ से एकांकी के भाण्डार में नित्य-प्रति वृद्धि होने लगी। कई प्रतिभा-सम्पन्न नाटककार इस क्षेत्र में उतरे और अनेक प्रयोग किये। हिन्दी के प्रमुख एकांकीकार हैं: रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, भुवनेश्वर, गणेश प्रसाद द्विवेदी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, जगदीशचन्द्र माथुर और देवेन्द्रनाथ शर्मा।

रामकुमार वर्मा ने लगभग सौ एकांकियों की रचना की है। उनके निम्नलिखित एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं:—

१.	पृथ्वी राज की आँखें	(१९३५)	छै एकांकी
२.	रेशमी टाई	(१९४१)	पाँच
३.	चारुमित्रा	(१९४२)	चार
४.	विभूति	(१९४५)	तीन
५.	सप्तकिरण	(१९४७)	सात
६.	रूपरंग	(१९४८)	छै
७.	रजत-रश्मि	(१९५०)	पाँच
८.	ऋतुराज	(१९५१)	पाँच
९.	दीपदान	(१९५३)	पाँच
१०.	रिमझिम	(१९५५)	सोलह

इसके अतिरिक्त 'कौमुदी-महोत्सव', 'ध्रुवतारिका' आदि एकांकी स्वतंत्र रूप से प्रकाशित हुए हैं, तथा अनेक अभी अप्रकाशित हैं।

---

१. लेखक : रामकुमार वर्मा, ('पृथ्वीराज की आँखें' संग्रह में संग्रहीत है।)

डा० रामकुमार वर्मा के एकांकियों का अनुवाद लगभग सभी भारतीय भाषाओं में हो चुका है; इसके अतिरिक्त उनके कुछ नाटक अंगरेजी में अनुवादित होकर विदेशों में भी लोकप्रिय हुए हैं। रामकुमार वर्मा ने सभी प्रकार के एकांकी लिखे हैं; उनके 'अंधकार' एकांकी को रामनाथ 'सुमन' ने विश्व का श्रेष्ठ एकांकी माना है। उनकी कृति 'शिवाजी' की एक लाख से भी अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं। उनके एकांकी अनेक बार रंगमंच पर अवतरित होकर लोकप्रियता प्राप्त कर चुके हैं। सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, व्यंग्यात्मक, प्रत्येक प्रकार के एकांकी की रचना करने में उनका कौशल अद्वितीय है। रंगमंच की दृष्टि से उनके नाटक सर्वश्रेष्ठ होते हैं। मैं उन्हें भारत का सर्वश्रेष्ठ एकांकीकार मानता हूँ। उनमें शेक्सपीयर की उदात्त दृष्टि है और 'शा' की व्यंग्य दृष्टि। एक विद्वान् ने उन्हें 'भारत का अभिनव भास' कहा है।

डा० वर्मा के एकांकी, शिल्प-विधि की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं। रंगमंच से उनका निकट का सम्बन्ध है, जिससे अधिकांश एकांकीकार दूर रहते हैं। उनकी भाषा पात्रानुकूल होती है, पर उसमें सर्वत्र ही कवित्व का माधुर्य है। डा० वर्मा के नाटकों की प्रशंसा सभी विद्वानों ने एकस्वर से की है। अभी हाल ही में उन्होंने तीन-अंकों का एक ऐतिहासिक नाटक 'विजय-पर्व' लिखा है, जो अभिनय होने के अतिरिक्त सरस और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है।

सेठ गोविन्ददास जी ने ऐतिहासिक, धार्मिक और सामाजिक पृष्ठ-भूमि में अपने नाटकों की रचना की है। उनका आदर्श सदैव ही भारतीय रहा है, इससे उनकी कृतियों में सद्वृत्तियों का महत्व प्रतिपादित है। कुछ आलोचकों को उनके एकांकियों में अनेक दृश्यों का होना अखर जाता है। उनकी कृतियों में वस्तुसंगठन सुदृढ़ नहीं होता, फिर भी वे हिन्दी के प्रमुख एकांकीकार हैं। उन्होंने हिन्दी में 'मोनोड्रामा' भी लिखे हैं। इन एकांकियों का संग्रह 'चतुष्पथ' में हुआ है। 'सप्त-रश्मि' उनका प्रथम एकांकी-संग्रह है।

सन् १९३५ में भुवनेश्वर का एक एकांकी संग्रह 'कारवाँ' प्रकाशित हुआ था, किन्तु दुर्भाग्यवश हमें भुवनेश्वर की अन्य कोई कृति अभी तक न मिल सकी है। आज-कल वे विक्षिप्त से हैं। 'कारवाँ' के एकांकी शिल्प-विधि की दृष्टि से भी सफल हैं। उनके साहित्य में कठोर सन्देहवाद है।

स्व० श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी से हिन्दी एकांकी को बहुत कुछ मिला और यदि वे कुछ अधिक दिन तक जीवित रहते तो हमें उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। उनके एकांकियों में भी अनेक प्रकार के रत्न हैं। अन्तर्द्वन्द्व को उन्होंने भी प्रश्रय दिया है। 'सोहाग-बिंदी', 'परदे का अपर-पार्श्व', 'सर्वस्व-समर्पण', 'वह फिर आई थी', 'कामरेड' आपके श्रेष्ठ एकांकी हैं, जिनमें अन्तर्विश्लेषण ही प्रमुख है। बाह्य-वर्णन में स्वर्गीय द्विवेदी जी अधिक सफल नहीं हो सके हैं। 'रपट' एकांकी में उन्होंने क्रिश्चियन-समाज और पुलिस स्टेशन का सफल चित्रण किया है।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने अनेक एकांकियों का प्रणयन किया है, जो सामाजिक कथानकों को लेकर ही लिखे गये हैं। उनके एकांकियों ने रंग-मंच पर भी सफलता प्राप्त की है। वे समाज की बिगड़ी हुई परिस्थिति को लेकर या तो उसे और भी बिगाड़ कर पाठकों या दर्शकों को हँसाते हैं, या सुधार कर हमारी भूलों की हँसी उड़ाते हैं। 'छठा-बेटा', 'पर्दा उठाओ परदा गिराओ', 'देवताओं की छाया में' आदि उनके संग्रह हैं।

श्री उदयशंकर भट्ट ने सामाजिक और ऐतिहासिक वृत्तों पर एकांकी लिखे हैं। उनकी ऐतिहासिक कृतियों में भी स्वाभाविकता है। सामाजिक एकांकियों में तीखा व्यंग्य है। 'स्त्री का हृदय' उनका प्रमुख एकांकी-संग्रह है।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने पिछले दस वर्षों से अनेक एकांकियों का प्रणयन कर हिन्दी-साहित्य में अपना प्रमुख स्थान बना लिया है। उन्होंने ऐतिहासिक एकांकियों की सफल रचना की है। टेकनीक की दृष्टि से उनकी

कृतियों में एक बात खटकने वाली है : वह है एकांकियों में एक से अधिक दृश्यों का होना। उन्होंने सामाजिक-एकांकी भी लिखे हैं। 'भोर का तारा' में उनके उत्कृष्ट एकांकी संकलित हैं।

शेष एकांकीकारों में प्रमुख हैं : वृन्दावनलाल वर्मा, हरिकृष्ण 'प्रेमी', विष्णुप्रभाकर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, आदि। प्रथम दो हिन्दी के प्रतिष्ठित नाटककार हैं। श्री वर्मा जी ने हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास को जन्म दिया है। उनके सम्पूर्ण नाटक 'पूर्व की ओर', 'हंस-मयूर' तथा 'राखी की लाज' हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय हुए हैं। उन्होंने उत्कृष्ट एकांकियों की भी रचना की है। श्री 'प्रेमी' जी के ऐतिहासिक नाटक प्रसिद्ध हैं उनके एकांकी टेकनीक की दृष्टि से भले ही प्रथम कोटि के न हों; किन्तु वस्तु-प्रतिपादन की दृष्टि से वे अत्यन्त उत्कृष्ट हैं, इसमें सन्देह नहीं। विष्णुप्रभाकर ने सामाजिक-एकांकी-रचना में सफलता प्राप्त की है। डा० धर्मवीर भारती ने सामाजिक, ऐतिहासिक और भावप्रधान एकांकियों का प्रणयन किया है; 'नदी प्यासी थी', उनकी कृतियों का श्रेष्ठ संग्रह है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने अनेक ऐतिहासिक और सामाजिक एकांकी लिखे हैं, जो 'ताजमहल के आँसू' तथा 'पर्वत के पीछे' में संग्रहीत हैं। अन्तिम दो एकांकीकार डा० रामकुमार वर्मा के शिष्य हैं और कला के क्षेत्र में उनका ही अनुकरण करते हैं।

प्रस्तुत संग्रह

इस संग्रह में ऐसे नाटक रखे गये हैं, जो हिन्दी-एकांकी का प्रतिनिधित्व तो करते ही हैं, जीवन के शाश्वत सत्य को भी हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं। 'समुद्रगुप्त पराक्रमांक' एकांकी से हमारे नवयुवकों में सत्कार्यों के प्रति आस्था उत्पन्न होगी। 'राज्यश्री' पर लिखित नाटक स्वर्णिम अतीत का दर्शन कराने के साथ ही हममें कर्त्तव्य के प्रति विश्वास की भावना को जन्म देने में सहायक होगा। इस एकांकी में दो दृश्य हैं, किन्तु उससे कार्य और समय के संकलन में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पड़ा है। 'पृथ्वी का स्वर्ग' एक श्रेष्ठ सामाजिक एकांकी है, जिसमें लोभहीनता,

दया, सहानुभूति आदि सद्गुणों की श्रेष्ठता प्रस्तुत की गयी है। 'कलाकार का सत्य' आधुनिक कलाकार की आर्थिक समस्या को सामने लाता है। 'प्रसाद की कला' साहित्यिक एकांकी है। 'प्रेम की आँखें' में अति-आधुनिक-नारी में परिवर्त्तन दिखाया गया है। अंतिम एकांकी 'राजरानी सीता' अतीत की स्वर्णिम झाँकी है, जिसमें आज की नारियों के लिए महत्वपूर्ण संदेश है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन नाटकों में विभिन्न वर्गों के चित्र हैं, जो जीवन की विशिष्ट दिशाओं पर प्रकाश डालते हैं। 'प्रेम की आँखें' एकांकी में ग्रामीण जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों को भी स्थान मिला है। बैजनाथ के माध्यम से 'मंगलिया की माँ' का जो आदर्श चरित्र हमारे सामने आता है, उसमें रेखा जैसी अति-आधुनिक-नारी की दिशा को भी परिवर्तित करने की क्षमता है। मध्यम-वर्ग के पात्रों की प्रमुखता इन कृतियों में है, इसका कारण यह है कि आज के समाज में मध्यमवर्ग की दशा लेखकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करती है। उनमें विकारों को ही अधिक प्रश्रय मिल रहा है। 'पृथ्वी का स्वर्ग' में सेठों के जीवन का चित्र प्रस्तुत किया गया है। वे वस्तुतः सर्प बन कर ही जीवित रहते हैं। कलाकार दो कृतियों में हैं; 'कलाकार का सत्य' मे अखिल (कवि) और 'पृथ्वी का स्वर्ग' में अचल (चित्रकार)। कलाकारों के आदर्श सामान्य व्यक्तियों से कुछ ऊँचे होते हैं और वे अनुकरणीय हैं। 'राज्यश्री' ऐतिहासिक इतिवृत्त पर आधारित है, किन्तु उसमें जीवन का महान् संदेश है; वह है दूसरों की सेवा में सदैव ही तत्पर रहना।

इस संग्रह में जिस प्रकार जीवन के विविध चित्र हैं, उसी प्रकार शैली की दृष्टि से भी इस संग्रह में विविधता है। 'समुद्रगु त पराक्रमांक' में भारत के महान् सम्राट् के व्यक्तित्व की एक झलक है, जिसमें कुतूहल की सृष्टि के साथ मानव-मनोविज्ञान का कुशल चित्रण किया गया है। 'प्रसाद की कला' एक रेडियो नाटक है, जिसमें प्रसाद की नाट्य-कला की सोदा-

हरण व्याख्या है। 'पृथ्वी का स्वर्ग' हास्यात्मक शैली में है, जो 'विनोद' (wit) की कोटि में आता है। सामान्य शैली में लिखित 'प्रेम की आँखें' एक श्रेष्ठ सामाजिक एकांकी है। 'कलाकार का सत्य' भी गंभीर शैली में है, इसमें स्वप्न का अंश भी है, जिसे रंगमंच पर प्रस्तुत करने में विशेष प्रकार की प्रकाश-व्यवस्था की आवश्यकता है। 'राज्यश्री' ऐतिहासिक-एकांकी है, जिसमें दो दृश्य हैं। इसकी शैली गंभीर है। 'राजरानी सीता' पौराणिक इतिवृत्त पर आधारित एकाँकी है, जिसकी शैली गंभीर और प्रभावोत्पादक है।

कला की दृष्टि से सभी एकांकी उत्कृष्ट है। 'राज्यश्री' में काल और प्रभाव की एकता है। 'कलाकार का सत्य', 'पृथ्वी का स्वर्ग' तथा 'प्रेम की आँखें'—इन तीनों एकांकियों में संकलनत्रय है; काल, प्रभाव या कार्य और स्थान का संकलन इनमें है। भाषा सभी एकांकियों की स्वाभाविक तथा प्रवाह-युक्त है। इन एकांकियों से आपको हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ एकांकीकार डा० रामकुमार वर्मा की कला का परिचय प्राप्त होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

सभी एकांकी रंगमंच पर प्रस्तुत किये जा सकते है।

राजनाँदगाँव
(मध्य प्रदेश)

—डा० बलदेव प्रसाद मिश्र

समुद्रगुप्त पराक्रमांक

प्रधान - अध्यापिका,
श्री दयानन्द विद्यालय,
(बालिका - विभाग)
माटुंगा - बम्बई, १९.

नाटक के पात्र

१ **समुद्रगुप्त पराक्रमांक**—पाटलिपुत्र के सम्राट्।
२ **धवलकीर्ति**—सिंहल के राजदूत।
३ **मणिभद्र**—भांडागार के अधिकरण।
४ **कोदण्ड**—महाबलाध्यक्ष।
५ **घटोत्कच, वीरबाहु**—भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा निर्माण करने वाले शिल्पी।
६ **प्रियदर्शिका**—सम्राट् समुद्रगुप्त की वीणावाहिनी।
७ **रत्नप्रभा**—राजनर्त्तकी।
८ **प्रहरी**।

स्थान—पाटलिपुत्र

काल—४२० वि०

[भांडागार का बाहरी कक्ष। दिवालों पर अनेक नृत्य-मुद्राओं में नर्त्तकियों के चित्र हैं। स्फटिक पत्थरों के स्तम्भों पर दीपों का आलोक हो रहा है। पीछे लोह-दण्डों से बना हुआ परिवेष है।

मंच के बीच में समुद्रगुप्त खड़े हुए हैं। शरीर पर श्वेत और पीत परिधान। रत्नजटित शिरोभूषण, केश उन्मुक्त। पुष्ट वक्षस्थल जिस पर रत्नों के हार। कटिबन्ध में कृपाण। उनकी मुद्रा गंभीर है।

उनके दाहिनी ओर सिंहल के राजदूत धवलकीर्ति और राज्य के महाबलाध्यक्ष कोदण्ड हैं और बाईं ओर भांडागार के अधिकरण मणिभद्र हैं। धवलकीर्ति का पीत, मणिभद्र का श्वेत और कोदण्ड का नील परिधान है। कोदण्ड सैनिक-वेश में है। द्वार पर शस्त्र लिए हुए प्रहरी। समुद्रगुप्त धवलकीर्ति को सम्बोधन करते हुए कहते हैं।]

समुद्रगुप्त—तो अब यह निश्चय है कि भांडागार में वे रत्न नहीं हैं!

धवलकीर्ति—यह तो आपने स्वयं देखा, सम्राट्! किन्तु भांडागार से इस तरह चोरी हो जाना आश्चर्यजनक है। भांडागार के अधिकरण मणिभद्र स्वयं कुछ नहीं कह सकते।

समुद्रगुप्त—(**तीव्र स्वर से**) क्यों नहीं कह सकते ? (**मणिभद्र से**) मणिभद्र ! वे रत्न कैसे चोरी चले गये ? आज तुम्हारा वह विश्वास कहाँ है जिसमें दो युगों से पाटलिपुत्र की मर्यादा पोषित होती आ रही थी ? वह विश्वास कहाँ है जिसमें मैंने तुम्हें कोशल, कांची और देवराष्ट्र की सम्पत्ति सौंपी थी ? वह विश्वास कहाँ है जिसमें लिच्छवि-वंश का गौरव निवास करता रहा है ? क्या उस विश्वास में विष प्रवेश कर गया ? बड़ी से बड़ी संपत्ति की रक्षा करने का अनुभव लेकर भी तुम दो हीरक खंडों की रक्षा नहीं कर सके ? तुमने मेरे विश्वास में इन रत्नों की केवल दो चिनगारियों से आग लगा दी ! तुम्हारे ये श्रम-बिन्दु यदि रक्त-बिन्दु बन जाते. . . ! (**क्रूर दृष्टि**)

मणिभद्र— सम्राट् ! अच्छा होता यदि मेरे प्रत्येक रोम से रक्त-बिंदु निकल कर आपके चरणों पर गिर कर कह सकते कि मैं निर्दोष हूँ ! यदि रक्त-बिन्दु वाणीरहित हैं तो आप उन्हें राजनीति की भाषा दीजिए; किन्तु आपके विश्वास की पवित्रता खोकर मैं जीवन की रक्षा नहीं चाहता !

धवलकीर्ति—सम्राट् ! आपका विश्वास खोकर कौन अपने जीवन की रक्षा करना चाहेगा ? किन्तु मणिभद्र की संरक्षा से रत्नों का चोरी जाना आश्चर्यजनक है !

मणिभद्र— यह आश्चर्य ही मुझे मृत्यु-पीड़ा का दंशन है । सम्राट् ने जिस विश्वास से मुझे अश्वमेध यज्ञ की संचित निधि सौंपी थी, उसी विश्वास की पवित्रता से मैंने उन रत्नों की संरक्षा की थी, फिर भी प्रातः वे राज्य-भांडागार में नहीं पाये गये !

समुद्रगुप्त—भांडागार के एक-मात्र अधिकारी तुम्हीं हो, मणिभद्र ! फिर तुम्हारी आज्ञा के बिना वहाँ कोई प्रवेश ही कैसे कर सकता है ?

धवलकीर्ति—यही तो आश्चर्य है, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—आश्चर्य से अपराध नहीं छिपाया जा सकता, धवलकीर्ति! अपराध की सहस्र जिह्वाएँ हैं जो अग्नि-शिखा की भाँति चंचल हो सकती हैं और (**मणिभद्र से**) तुम यह जानते हो मणिभद्र कि भांडागार की रक्षा क्या है! वह कृपाण के दर्पण में बन्द की हुई छाया है, कृपाण से मुक्त नहीं की जा सकती!

मणिभद्र—सम्राट्! मैं अपनी मृत्यु हाथ में लेकर आया हूँ! रत्नों का खो जाना ही मेरे लिए सबसे बड़ा अपराध है। मुझे केवल अपने भाग्य-दोष का दुःख है। यश और कीर्ति के साथ सम्राट की सेवा पच्चीस वर्षों तक करने के अनन्तर इस भाँति अपयश से मेरे जीवन का अन्त हो! मैं आपसे अपनी मृत्यु माँगने आया हूँ, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—मुझसे अपनी मृत्यु मांगने की भी आवश्यकता है?

मणिभद्र— सत्य है, सम्राट्! मैं अभी तक अपने जीवन की समाप्ति कर चुका होता किन्तु आपके समक्ष अपनी आत्मा की पवित्रता के दो शब्द कहे बिना मुझे परितोष न होता। आप मेरे चरित्र के सम्बन्ध में अनेक बातें सोच सकते थे। अब मुझे सन्तोष है, मैंने अपनी आत्मा की पुकार आप तक पहुँचा दी। अब मुझे आज्ञा दीजिये!

समुद्रगुप्त—मणिभद्र! अभी तुम नहीं जा सकोगे। तुम्हारे उत्तरदायित्व के साथ राज्य का भी उत्तरदायित्व है। यदि तुम्हारे अधिकार में सुरक्षित की गई अश्वमेध-यज्ञ की सारी सम्पत्ति भी नष्ट हो जाती तो मुझे इतना दुःख न होता जितना इन दो रत्न-खंडों की चोरी से हुआ है। इन रत्नों के साथ जैसे मेरे हृदय की सारी शान्ति और पवित्रता भी खो गई है।

धवलकीर्ति—सम्राट्! उन रत्नों का सम्बन्ध भी पवित्रता से ही था। वे सिंहल की राजमहिषी के कंठहार के प्रधान रत्न थे जो भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा के लिए विश्वास से आपकी सेवा में भेजे गये थे।

समुद्रगुप्त—(**आश्चर्य से**) राजमहिषी के कंठहार से!

धवलकीर्ति—हाँ, सम्राट्! मैं ही राजदूत बनकर सिंहल से यह सम्पत्ति लाया हूँ। जब सिंहल के महासामन्त सिरिमेघवन्न ने एक लक्ष स्वर्णमुद्राएँ बोधगया में एक विशाल मठ बनवाने और भगवान् बुद्धदेव की रत्न-जटित स्वर्ण-प्रतिमा निर्माण करने के निमित्त स्वर्णपात्रों में सुसज्जित कीं तब राजमहिषी कुमारिला के नेत्रों में श्रद्धा और प्रेम के आँसू छलक आये। उन्होंने उसी समय महासामन्त से प्रार्थना की कि उनके कण्ठहार के दो प्रधान हीरक-खण्ड श्रीमान् की सेवा में इस अनुरोध के साथ भेज दिये जायँ कि ये हीरक-खण्ड भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा के अंगुष्ठ नखों के स्थान पर विजड़ित हों। सम्राट्! ये दोनों हीरक जैसे राजमहिषी कुमारिला की श्रद्धा और प्रेम के दो पवित्र अश्रु-बिन्दु थे, जो आज खो गये! इन अश्रुबिन्दुओं के खो जाने से भगवान् के चरणों पर राजमहिषी की श्रद्धांजलि न चढ़ सकेगी। प्रतिमा अपूर्ण रहेगी, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—(**आवेग से**) तब सुनो, धवलकीर्ति! तुम सिंहल के राजदूत हो। मेरे महासामन्त की भेंट लानेवाले! तुम्हारे सामने मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि सम्राट समुद्रगुप्त यदि उन रत्न-खंडों को नहीं खोज सका तो वह अपने राज्याधिकार का ध्यान छोड़कर भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा के सामने कठोर प्रायश्चित्त करेगा!

मणिभद्र— सम्राट्!.......

धवलकीर्ति—सम्राट्!.......

समुद्रगुप्त—रुको, राजदूत! यह प्रतिज्ञा समस्त साम्राज्य के भाग्य-निर्णय के साथ घोषित की जा रही है। यह बुद्धदेव के प्रति मेरे अपराध का दण्ड है! राजमहिषी के विश्वास की रक्षा न कर सकनेवाले का प्रायश्चित्त है! मेरी घोषणा प्रचारित

हो और इसके साथ मेरे भांडागार के अधिकरण का कलंक भी अमर हो! **(मणिभद्र की ओर दृष्टि)** वह किस रूप में हो, इसका निर्णय अभी होगा।

मणिभद्र - सम्राट् ! आपके इन शब्दों में मेरी मृत्यु भी मेरा उपहास कर रही है ! जीवन का एक-एक क्षण मुझे शूल की भाँति चुभ रहा है। मैं आपकी सेवा से जाने की आज्ञा चाहता हूँ जिससे मैं अपने इस कलंकित जीवन को अधिक कलंकित न कर सकूँ।

समुद्रगुप्त—ठहरो, मणिभद्र ! मेरी प्रतिज्ञा की पूर्ति में तुम्हारी सहायता अपेक्षित होगी। तुम्हारी आत्म-हत्या से मेरा कलंक मिटेगा नहीं। मुझे कुछ बातों के जानने की आवश्यकता है।

धवलकीर्ति—सम्राट् ! यदि एकांत की आवश्यकता हो तो मुझे आज्ञा दीजिए !

समुद्रगुप्त—नहीं, धवलकीर्ति ! ठहरो ! तुम्हारे ही संरक्षण में यह मठ और प्रतिमा निर्मित हुई है, तुम्हारी उपस्थिति भी आवश्यक है। मुझे विश्वास है, तुम अपने संकेतों से मेरे प्रयत्न में सहायता पहुँचाओगे। **(मणिभद्र से)** विश्वासपात्र, मणिभद्र ! वे रत्न-खंड सर्वप्रथम तुम्हारे अधिकार में कब आये ?

मणिभद्र— सम्राट् ! आज से दस दिन पूर्व।

समुद्रगुप्त—फिर तुमने उन्हें कहाँ सुरक्षित किया ?

मणिभद्र— इसी कक्ष में, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—अंतरंग प्रकोष्ठ में क्यों नहीं ?

मणिभद्र— मुझे धवलकीर्ति से यह सूचना मिली थी कि मठ और प्रतिमा का कार्य सम्पूर्ण हो गया है और अब वे शीघ्र ही शिल्पियों को दे दिये जावेंगे, अतः उन्हें अंतरंग प्रकोष्ठ में रखने की आवश्यकता नहीं है।

धवलकीर्ति—महासामन्त से मुझे यही आज्ञा मिली थी कि मैं शीघ्र तिशीघ्र मठ और प्रतिमा के निर्माण और उनकी व्यवस्था की चेष्टा

करूँ। सिंहल द्वीप के भिक्षुओं को बोधगया में बड़ा कष्ट होता है, इसलिए उनकी सुविधा के लिए शीघ्रातिशीघ्र मठ का निर्माण होना था। सम्राट्, आपकी प्रशंसा नहीं की जा सकती कि आपने भागवत धर्म में विश्वास रखते हुए भी बोधगया में भिक्षुओं के लिए मठ बनवाने की आज्ञा दे दी।

समुद्रगुप्त—यह मेरी प्रशंसा का अवसर नहीं है, धवलकीर्ति ! हाँ, तो मठ और प्रतिमा की शीघ्र व्यवस्था करने की प्रेरणा से ही तुमने मणिभद्र को अंतरंग प्रकोष्ठ में रत्न रखने से रोक दिया ?

धवलकीर्ति–हाँ, सम्राट् ! शिल्पी प्रतिमा-निर्माण का कार्य समाप्त कर चुके थे। दो-एक दिन में ही भगवान् बुद्धदेव के चरणों में वे रत्न विजड़ित कर दिये जाते।

समुद्रगुप्त—दो-एक दिन का प्रश्न नहीं था। प्रश्न मणिभद्र के उत्तर-दायित्व और कोष-संरक्षा का था। फिर वे रत्न-शिल्पियों को दूसरे दिन दे दिये गये ?

मणिभद्र— नहीं, सम्राट् ! वे रत्न-शिल्पियों को नहीं दिये जा सके। शिल्पियों को केवल पूर्व निश्चय के अनुसार चार सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ दी गई थीं।

समुद्रगुप्त—क्यों ?

मणिभद्र— उनका पारिश्रमिक चार सहस्र मुद्राएँ निश्चित किया गया था।

समुद्रगुप्त—तो कार्य-समाप्ति के पूर्व ही उन्हें पारिश्रमिक क्यों दिया गया ?

मणिभद्र— धवलकीर्ति का आदेश था।

समुद्रगुप्त—**(धवलकीर्ति से)** क्यों, धवलकीर्ति ! तुम्हारा यह निर्देश सत्य है ?

धवलकीर्ति–सत्य है, सम्राट् ! मैं उन शिल्पियों के कार्य से बहुत प्रसन्न

था। वे अत्यन्त सात्विक प्रवृत्तिवाले हैं, मुझे विश्वास था कि वे पुरस्कार पाने के उपरान्त भी रत्न जड़ने का कार्य पूर्ण करेंगे।

समुद्रगुप्त—ऐसे कितने शिल्पी हैं?

धवलकीर्ति–केवल दो हैं, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—उनके नाम?

धवलकीर्ति–घटोत्कच और वीरबाहु!

समुद्रगुप्त—इस समय वे कहाँ हैं?

धवलकीर्ति–वे अपने आवास-स्थान पर ही होंगे!

कोदण्ड— नहीं, सम्राट्! वे इस समय बंधन में हैं। जब से रत्नों की चोरी का समाचार प्रसिद्ध हुआ है तब से मैंने उन शिल्पियों को बन्दी कर रक्खा है। मैं उन्हें मणिभद्र के साथ ही ले आया था। वे बाहर हैं; यदि आज्ञा हो तो उन्हें सम्राट् की सेवा में उपस्थित करूँ!

समुद्रगुप्त—मैं तुम्हारी सतर्कता से प्रसन्न हूँ, महाबलाध्यक्ष! यद्यपि मैं जानता हूँ कि शिल्पी निर्दोष हैं, फिर भी मैं उनसे विचार-विनिमय करना चाहूँगा। उन्हें मेरे समक्ष शीघ्र ही उपस्थित करो!

कोदण्ड— (**सिर झुकाकर**) जो आज्ञा! (**प्रस्थान**)

समुद्रगुप्त—तो धवलकीर्ति! तुम शिल्पियों के कार्य से बहुत प्रसन्न हो?

धवलकीर्ति–हाँ, सम्राट्! उन्होंने केवल एक मास में भगवान् की प्रतिमा का निर्माण कर दिया।

समुद्रगुप्त—उनके निर्माण-कार्य की कुछ विशेषता?

धवलकीर्ति–सम्राट्! भगवान् की प्रतिमा इतनी सजीव ज्ञात होती है, मानो वे संघ को उपदेश देने के अनन्तर अभी ही मौन हुए हैं। उनकी प्रतिमा का ओज अन्य धर्मावलम्बियों को भी बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित करने में समर्थ है।

समुद्रगुप्त—और बोधगया का मठ पूर्ण हो गया?

धवलकीर्ति–हाँ, सम्राट्! मठ भी पूर्ण हो गया। एक सहस्र भिक्षुओं के निवास के योग्य उसमें प्रबन्ध है और उसमें कला-कुशलता चरम सीमा की उपस्थित की गई है।

समुद्रगप्त—कला-कुशलता की चरम सीमा से क्या तात्पर्य है?

धवलकीर्ति–सम्राट्! बुद्धदेव के जीवन के समस्त चित्र भित्तियों पर अंकित हैं। महामाया का स्वप्न, गौतम का जन्म, शाक्य नरेश का सुखोत्सव, वैराग्य उत्पन्न कराने वाले रोग, जरा और मृत्यु के चित्र, भगवान् गौतम का महाभिनिष्क्रमण, फिर उनकी तपस्या एवं उनके बोधिसत्व का रूप! संघ को उपदेश देते हुए उनके चित्रों में महान् ऐश्वर्य और विभूति है।

समुद्रगुप्त—और भिक्षुओं की सुविधा का क्या प्रबंध है?

धवलकीर्ति–सम्राट! प्रवज्या की समस्त सामग्री प्रत्येक कक्ष में संचित है। चीवर आदि की व्यवस्था देश के अन्य मठों से इसमें विशेष रहेगी। संक्षेप में, अब किसी भी भिक्षु को लौकिक एवं पार-लौकिक दृष्टि से किसी प्रकार की भी असुविधा नहीं हो सकती!

समुद्रगुप्त—तब तो मठ के समस्त शिल्पियों को राज्य की ओर से भी पुरस्कार प्रदान किया जावेगा। घटोत्कच और वीरबाहु को तो विशेष रूप से। धवलकीर्ति! पाटलिपुत्र में इन दोनों शिल्पियों को आवास कहाँ दिया गया था?

धवलकीर्ति–जिस अतिथि-शाला में मैं हूँ उसी के समीप राज्यकुटीर में!

समुद्रगुप्त—तुमने रत्न-खंडों के सम्बन्ध में उनसे कभी चर्चा की थी?

धवलकीर्ति–भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के समाप्त होने के कुछ पहले ही मैंने भगवान् के चरण-अंगुष्ठ में स्थान छोड़ने की आज्ञा देते समय उनसे उन रत्नों की चर्चा की थी, किन्तु उनसे अधिक वार्त्तालाप कर अपना समय नष्ट करना मैंने कभी उचित

नहीं समझा। आवश्यक आदेशों के अतिरिक्त मैंने उनसे कभी कोई बात ही नहीं की।

समुद्रगुप्त—तुम सिंहल के प्रमुख कलाविद् हो। फिर कलाकारों से वार्तालाप करना समय नष्ट करना नहीं है, धवलकीर्ति !

धवलकीर्ति—सम्राट् ! आप जैसे उत्कृष्ट कलाकार से वार्तालाप करना सौभाग्य की बात है, किन्तु सभी कलाकार मेरे समय के अधिकारी नहीं है !

समुद्रगुप्त—तुम भूल करते हो, धवलकीर्ति ! प्रत्येक कलाकार में कुछ न कुछ मौलिकता अवश्य होती है। कलाविद् को चाहिए कि कलाकार की उस मौलिकता का वह रत्नों की भाँति संग्रह करे।

[**महाबलाध्यक्ष कोदण्ड का प्रवेश**]

कोदण्ड— (**प्रणाम कर**) सम्राट्, दोनों शिल्पी यहाँ उपस्थित है। आज्ञा हो तो उन्हें भीतर लाऊँ !

समुद्रगुप्त—उपस्थित करो !

[**महाबलाध्यक्ष का प्रस्थान**]

समुद्रगुप्त—धवलकीर्ति ! ये दोनों शिल्पी क्या सिंहल के निवासी है ?

धवलकीर्ति—हाँ, सम्राट् ! इनका आदि स्थान तो सिंहल ही है किन्तु अपनी कला-प्रियता के कारण ये समस्त देश का पर्यटन करते हैं।

[**महाबलाध्यक्ष कोदण्ड के साथ घटोत्कच और वीरबाहु का प्रवेश। वे प्रणाम करते हैं।**]

कोदण्ड— (**संकेत करते हुए**) सम्राट् ! यह शिल्पी घटोत्कच है और यह वीरबाहु !

समुद्रगुप्त—घटोत्कच और वीरबाहु, सिंहल के शिल्पी ! किन्तु समस्त देश के अभिमान्, राज्य में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करनेवाले, प्रस्तर में प्राण फूंकनेवाले ! तुम लोगों से राज्य की शोभा

है। इसीलिए ये किसी भी दण्ड-विधान से दण्डित नहीं हो सकते। क्यों शिल्पी ! सौन्दर्य किसे कहते हैं ?

घटोत्कच—सम्राट् ! विषम वस्तु में समता लाना ही सौन्दर्य है !

समुद्रगुप्त– और तुम क्या समझते हो, वीरबाहु ?

वीरबाहु— हृदय में अनुराग की सृष्टि का साधन ही सुन्दरता है।

समुद्रगुप्त –यदि चोरी के प्रति हृदय में अनुराग है तो वह भी सुन्दरता है, शिल्पी ?

वीरबाहु— सम्राट् ! यदि चोरी सात्विक भावों से होती है तो वह सुन्दरता कही जा सकती है।

समुद्रगुप्त—सात्विक भावों से कौन-सी चोरी होती है ?

वीरबाहु— कला, कविता और नारी-हृदय की सम्राट्, जिसमें निरीहता और पवित्रता है।

समुद्रगुप्त—और रत्न-खंडों की चोरी, शिल्पी ?

वीरबाहु— वह सुन्दरता नहीं है, सम्राट् ! रत्न-खंडों की चोरी में तृष्णा है, जिसका रूप दुःख है और फल पाप है।

समुद्रगुप्त—तुम्हें ज्ञात है कि सिंहल से भेजे गये रत्न-खंड चोरी चले गये ?

वीरबाहु— सम्राट् ! मुझे इसकी सूचना महाबलाध्यक्ष से ज्ञात हुई। यही कारण है कि प्रभात से हम लोगों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध है। हमारी रक्षा कीजिए, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—तुम लोगों की पूर्ण रक्षा होगी, शिल्पी ! पहले मेरे प्रश्नों के उत्तर दो।

वीरबाहु— प्रश्न कीजिए, सम्राट् !

समुद्रगुप्त– तुम्हें दो सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त हो चुकी हैं ?

वीरबाहु— हाँ, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—और घटोत्कच, तुम भी पुरस्कृत हो चुके हो ?

घटोत्कच—हाँ, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—तुम लोग कार्य-समाप्ति के पूर्व ही पुरस्कृत क्यों हुए ?

घटोत्कच—धवलकीर्ति की प्रसन्नता ही इसका कारण है।

वीरबाहु— या हम लोगों की कार्य-कुशलता।

समुद्रगुप्त—क्या इस बात की संभावना हो सकती है कि उन दो सहस्र मुद्राओं में वे रत्न-खंड भी चले गये हों ?

घटोत्कच—सम्राट् ! यदि रत्न-खंड उन स्वर्ण मुद्राओं में मिलते तो मैं मणिभद्र को इस बात की सूचना अवश्य देत ।

वीरबाहु— सम्राट् ! मेरा निवेदन तो यह है कि यदि मुझे दो सहस्र मुद्राओं मे एक मुद्रा भी अधिक मिलती तो मं वह मणिभद्र के पास भेज देता।

समुद्रगुप्त—इस बात का प्रमाण ?

घटोत्कच—सम्राट् ! हृदय की निर्मलता का प्रमाण केवल निर्मल हृदय ही पा सकता है।

समुद्रगुप्त—क्यों शिल्पी ! क्या तुम्हें मेरे हृदय की निर्मलता में विश्वास नहीं है ?

घटोत्कच—सम्राट् ! हमें पूर्ण विश्वास है, इसीलिए आपसे निवेदन करना चाहते हैं। दूसरी बात यह है कि आज तक मैंने भगवान् बुद्ध-देव की प्रतिमाओं का निर्माण किया है। भगवान् बुद्धदेव की अनेक प्रतिमाओं तथा उनके जीवन के अनेक चित्रों को अंकित करते-करते मेरे हृदय में—मेरी कला में—भी तथागत की प्रतिमा का निर्माण हो गया है। उनके आदर्श मेरी प्रत्येक श्वास में निवास करते है। उनके 'आर्य-सत्य' मेरी प्रत्येक यति और गति में संचारित हो गये हैं। ऐसी स्थिति में रत्न-खंडों की प्रभा मेरे चरित्र को कलंकित नहीं कर सकती !

समुद्रगुप्त—वीरबाहु ! तुम्हारा क्या कथन है ?

वीरबाहु— सम्राट् ! जो रत्न-खंड भगवान् बुद्धदेव के चरणों में स्थान पाने के लिए भेजे गए थे वे रत्न-खंड निर्जीव हैं और हम

लोगों के हृदय सजीव। निर्जीवों में इतनी शक्ति नहीं है कि वे सजीवों की प्रकृति में बाधा डाल सकें। यदि आवश्यकता होगी तो रत्न-खंडों के स्थान पर हम लोग अपने हृदय भी विजड़ित करने के लिए प्रस्तुत होंगे।

समुद्रगुप्त—दोनों ही उच्च कोटि के कलाकार तथा शिल्पी हैं! घटोत्कच! बुद्धदेव की प्रतिमा का निर्माण हो गया?

घटोत्कच—सम्राट्! पिछले सप्ताह ही पूर्ण हो गया।

समुद्रगुप्त—फिर रत्न-खंडों को प्राप्त करने में इतना विलम्ब क्यों हुआ?

घटोत्कच—सम्राट्! मैंने धवलकीर्ति से रत्न-खंडों के शीघ्र पाने की याचना की थी, किन्तु उन्हें अवकाश नहीं था।

समुद्रगुप्त—धवलकीर्ति को अवकाश नहीं था! क्यों धवलकीर्ति?

धवलकीर्ति—सम्राट्! मैं पाटलिपुत्र का उपासक हूँ। उसके सौंदर्य को देखने की इच्छा अनेक वर्षों से मेरे हृदय में थी। मैं यहाँ आकर उसे अधिक से अधिक देखने के अवसर प्राप्त करना चाहता था। अतः, मैं प्रायः आपके नगर के उद्यानों और सरोवरों ही में अपने जीवन की अनुभूतियाँ प्राप्त करता था, किन्तु, फिर भी शिल्पियों की आवश्यकता का ध्यान मुझे सदैव रहा करता था।

घटोत्कच—किन्तु, गत सन्ध्या को जब मैंने आपकी सेवा में आने की चेष्टा की, तो मुझे ज्ञात हुआ कि पाटलिपुत्र में आकर नृत्य-दर्शन की ओर आपकी विशेष अभिरुचि हो गई है, आप नृत्यों की विशेष भाव-भंगिमाओं के चित्र-संग्रह में इतने व्यस्त रहते हैं कि आपको मेरी प्रार्थनाओं के सुनने का अवकाश नहीं था।

धवलकीर्ति—घटोत्कच! मेरी रुचि की समालोचना करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है!

समुद्रगुप्त—शान्त, धवलकीर्ति! मुझे यह सुनकर प्रसन्नता है कि तुम्हें नृत्य-कला विशेष प्रिय है। तुमने पाटलिपुत्र की राजनर्तकी

का नृत्य, सम्भव है, अभी तक न देखा हो। वह भी मैं तुम्हें दिखलाने का प्रयत्न करूँगा।

धवलकीर्ति—सम्राट् ! आपकी विशेष कृपा है।

समुद्रगुप्त—मैं उसे अभी दिखलाने का प्रबन्ध करूँगा। मेरे नृत्य देखने का समय भी हो गया। (**महाबलाध्यक्ष से**) कोदण्ड ! तुम इन शिल्पियों को न्याय-सभा की उत्तर-शाला में स्थान दो। (**शिल्पियों से**) शिल्पी घटोत्कच और वीरबाहु ! तुम्हारे उत्तरों से मैं प्रसन्न हुआ। राजकीय नियमों के आचरण में यदि शिल्प-साधकों को कुछ असुविधा हो तो वह उपेक्षणीय है। तुम ध्यान मत देना, शिल्पी !

वीरबाहु—सम्राट् की जो आज्ञा !

धवलकीर्ति—मुझे कोई असुविधा नहीं है, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—तो तुम लोग जाओ, राज-शिल्पियों को किसी प्रकार की असुविधा नहीं होनी चाहिए !

कोदण्ड—जो आज्ञा, सम्राट !

समुद्रगुप्त—और सुनो, कोदण्ड ! राजनर्त्तकी रत्नप्रभा को इसी स्थान पर आने की सूचना दो। आज मैं धवलकीर्ति के साथ इसी स्थान पर राजनर्त्तकी का नृत्य देखूंगा।

[**कोदण्ड और शिल्पी जाने के लिए उद्यत होते हैं।**]

समुद्रगुप्त—और सुनो, प्रियदर्शिका से कहना कि वह मेरी वीणा ले आये ! आज मैं फिर वीणा बजाना चाहता हूँ। केदारा के स्वरों का सन्धान हो !

कोदण्ड—जो आज्ञा !

[**कोदण्ड और शिल्पियों का प्रस्थान**]

समुद्रगुप्त—(**मणिभद्र से**) मणिभद्र ! दुर्भाग्य से यदि यह तुम्हारी अन्तिम रात्रि हो, तो तुम्हें अपने सम्राट् की वीणा सुनने का अवसर क्यों न मिले ? तुम भी सुनो !

मणिभद्र— यह मेरा सौभाग्य है, सम्राट्!

धवलकीर्ति–सम्राट्! फिर मुझे आज्ञा दीजिये !

समुद्रगुप्त—क्यों, धवलकीर्ति ! क्या तुम हमारी वीणा नहीं सुनोगे और राजनर्तकी का नृत्य नहीं देखोगे ? तुम तो बड़े भारी कलाकार हो !

धवलकीर्ति–सम्राट् ! प्रशंसा के लिए धन्यवाद ! मैं सोचता हूँ कि कला की उपासना के लिए पवित्र मन की आवश्यकता है। मेरा मन इस घटना से बहुत अव्यवस्थित हो गया है।

समुद्रगुप्त— मैं अपनी वीणा से तुम्हारा हृदय व्यवस्थित कर दूंगा। फिर आज इस वादन और नृत्य को तुम मणिभद्र की विजय-विदा समझो। जिस मणिभद्र ने पच्चीस वर्षों तक राज्य की सेवा की है उसके अन्तिम क्षणों को मुझे अधिक से अधिक सुखमय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस मंगल-वेला के समय तुम्हें भी उपस्थित रहना चाहिए। पाटलिपुत्र के न्यायाचरण में सिंहल का भी प्रतिनिधित्व हो।

धवलकीर्ति–सम्राट् ! आपका कथन सत्य है, किन्तु मैंने समझा, सम्भवतः आप एकान्त चाहते हैं।

समुद्रगुप्त—नहीं, धवलकीर्ति ! ऐसे समारोहों में एकान्त टूटे हुए तार की तरह कष्टदायक है !

धवलकीर्ति–(**संभलकर**) और सम्राट् ! आपकी वीणा में वह स्वर है जो टूटे हुए हृदयों को भी जोड़ देता है। आप संगीत-कला में नारद और तुम्बुरु को भी लज्जित करते हैं। आपकी संगीत-प्रियता इसी बात से स्पष्ट है कि आपकी मुद्राओं पर वीणा बजाती हुई राजमूर्ति अंकित है। मैंने सुना है कि आपने अपने अश्वमेध यज्ञ के उपरान्त दो मास तक संगीतोत्सव किया था।

समुद्रगुप्त—यह सरस्वती की साधना करने की सबसे सरल युक्ति है, अच्छा, धवलकीर्ति ! तुम भी तो संगीत जानते हो ?

धवलकीर्ति—सम्राट् ! आपकी साधना की समानता कौन कर सकता है, किन्तु इस कला की ओर मेरी अभिरुचि अवश्य है।

समुद्रगुप्त—और नृत्य-कला भी तो जानते होगे ?

धवलकीर्ति—सम्राट् ! नृत्य-कला का मैंने अध्ययन मात्र किया है, उसकी विवेचना कर सकता हूँ, किन्तु स्वयं नृत्य नहीं कर सकता।

समुद्रगुप्त—नृत्य-कला देखने से प्रेम है ?

धवलकीर्ति—यह सिंहल के वातावरण का प्रभाव है।

समुद्रगुप्त—मुझे प्रसन्नता है कि सिंहल का वातावरण मेरी अभिरुचि के अनुकूल है। फिर तो राजनर्त्तकी के नृत्य से तुम्हें विशेष प्रसन्नता होगी।

धवलकीर्ति—यह सम्राट् का अनुग्रह है।

समुद्रगुप्त—और मेरी वीणा के स्वर भी आज मुखरित होंगे।

धवलकीर्ति—आपकी वीणा तो स्वर्गीय संगीत है, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—अधिक नहीं, धवलकीर्ति ! किन्तु संगीत ईश्वरीय विभूति की वह किरण है जिससे मनुष्य देवता हो जाता है। हृदय का समस्त कालुष्य वीणा की एक झंकार से ही दूर हो जाता है।

[प्रियदर्शिका का वीणा लिए हुए प्रवेश। वह प्रणाम करती है।]

समुद्रगुप्त—आओ, प्रियदर्शिके ! आज मैं फिर वीणा बजाऊँगा।

प्रियदर्शिका—(**वीणा आगे प्रस्तुत कर**) प्रस्तुत है, सम्राट् !

समुद्रगुप्त—(**वीणा हाथ में लेते हुए**) केदारा के स्वर में वीणा का सन्धान है ?

प्रियदर्शिका—हाँ, सम्राट् ! इसी राग की आज्ञा प्राप्त हुई थी।

समुद्रगुप्त—राजनर्त्तकी रत्नप्रभा का शृंगार पूर्ण हुआ ?

प्रियदर्शिका—वे तैयार हैं, आपकी सेवा में उपस्थित होने की आज्ञा चाहती हैं !

समुद्रगुप्त---उन्हें नृत्य के साथ आने दो, केदारा स्वरों में!

प्रियदर्शिका--(**सिर झुकाकर**) जो आज्ञा! (**प्रस्थान**)

समुद्रगुप्त---(**वीणा के तारों पर उँगलियाँ फेरते हुए**) सुनो, धवलकीर्ति! केदारा के स्वर में वह भावना है कि करुणा की समस्त मूर्छनाएँ एक बार ही हृदय में जाग्रत हो जाती हैं। ऐसा ज्ञात होता है जैसे सारा संसार तरल होकर किसी की आँखों से आँसू बनकर निकलना चाहता है। तारिकाएँ आकाश की गोद में सिमिट कर पतली किरणों में प्रार्थना करने लगती हैं। कलिकाएँ सुगंधि की वेदना से फूल बन जाती हैं और बिन्दु में डूबकर पृथ्वी के चरणों में आत्मसमर्पण करना चाहती हैं। अच्छा, तो सुनो वह रागिनी!

[समुद्रगुप्त वीणा पर केदारा का स्वर छेड़ते हैं। धीरे-धीरे बजाते हुए वे तन्मय हो जाते हैं। उसी क्षण रत्नप्रभा का नृत्य करते हुए प्रवेश। रत्नप्रभा के अंग-अंग से रागिनी की गति व्यक्त हो रही है। वह अट्ठारह वर्षीया सुन्दरी है। सौन्दर्य की रेखाओं ही में उसके शरीर की आकृति है। केश-कलाप में पुष्पों की मालाएँ, शरीर में अंगराग और चन्दन की चित्र-रेखाएँ हैं। मस्तक पर केसर का पुष्पांकन। बीच में कुंकुम का बिन्दु। नेत्र-कोरों में अंजन की रेखा। चिबुक पर कस्तूरी बिन्दु। कंठ में मुक्ताहार। हृदय पर रत्न-राशि। कटि में दोलायमाना किंकणी और पैरों में नूपुर। वह केदारा राग की साकार प्रतिमा बनकर नृत्य कर रही है। साथ ही सम्राट् समुद्रगुप्त की वीणा में निकलती हुई रागिनी राजनर्त्तकी के पद-विन्यास में माधुर्य भर रही है। कुछ समय नृत्य करने के उपरान्त 'सम' पर राजनर्त्तकी हाथ जोड़कर भावमुद्रा में सम्राट् के समक्ष तिरछी होकर खड़ी हो जाती है।]

समुद्रगुप्त—(**प्रसन्न होकर**) मेरे राज्य की उर्वशी, तुम बहुत सुन्दर नृत्य करती हो! .....यह पुरस्कार!

[**गले से मोती की माला उतार कर देते हैं।**]

रत्नप्रभा—(**हाथ जोड़कर**) सम्राट्! मैं इसके योग्य नहीं हूँ। मुझसे आज दो बहुत बड़े अपराध हुए है!

समुद्रगुप्त—(**भ्रांत होकर**) तुमसे कभी कोई अपराध नहीं हुआ! कौन-सा अपराध ?

रत्नप्रभा—पहला अपराध तो यह है कि मैं आपकी मधुर वीणा के अनुकूल नृत्य नहीं कर सकी। आपके संगीत की मर्यादा कभी भंग नहीं हुई। आज मेरे नृत्य के कारण आपका संगीत कलुषित हो गया, सम्राट्!

समुद्रगुप्त—नहीं, रत्नप्रभा! अपने नृत्य से तुमने मेरे स्वरों में सहायता ही पहुँचाई है, हानि नहीं!

रत्नप्रभा—सम्राट्! मैं अनुग्रहीत हूँ! आपने कभी मेरे नृत्य के साथ वीणा नहीं बजाई। आज आपने मेरे नृत्य को अनन्त गौरव प्रदान किया है।

समुद्रगुप्त—यह कला की साधना में आवश्यक है! अच्छा दूसरा अपराध कौन-सा है?

रत्नप्रभा—सम्राट्! आज आपने इतनी मधुर वीणा बजाई कि संगीत की इस दिव्य अनुभूति में मेरे हृदय का समस्त दोष दूर हो गया और आज मैं अपना अपराध स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

समुद्रगुप्त—मैं उत्सुक हूँ सुनने के लिए, रत्नप्रभा!

रत्नप्रभा—सम्राट्! राजनर्त्तकी होकर मैंने एक अन्य व्यक्ति से भेंट स्वीकार की!

समुद्रगुप्त—(**उत्सुकता से**) किससे?

धवलकीर्ति–(**शीघ्रता से**) मुझसे ! सम्राट् सिंहल के राजदूत धवलकीर्ति से !

समुद्रगुप्त—तो इसमें कोई हानि नहीं ! तुम तो हमारे राज्य के अतिथि हो, तुमसे भेंट स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

रत्नप्रभा—फिर भी, सम्राट् ! अन्य राज्य के व्यक्ति की भेंट स्वीकार करने की आज्ञा मेरी आत्मा मुझे नहीं देती। इनकी यह भेंट आप ही के चरणों में समर्पित करती हूँ। और वह यह है !
[**सम्राट् के चरणों में दो हीरक-खंड समर्पित करती है**]

मणिभद्र— (**हीरक-खंडों को देखकर प्रसन्नता से**) वे हीरक-खंड यही हैं ! यही हैं ! (**उद्वेग से**) महाराज प्रायश्चित्त नहीं करेंगे ! महाराज प्रायश्चित्त नहीं करेंगे ! !

समुद्रगुप्त—(**रत्नों को हाथ में लेकर**) ठहरो, ठहरो मणिभद्र ! प्रसन्नता से पागल मत बनो ! (**धवलकीर्ति से**) राजदूत धवलकीर्ति ! क्या यह सत्य है ?

धवलकीर्ति–(**लज्जा से नीचे सिर करके मौन है**)

समुद्रगुप्त—बोलो राजदूत ! क्या तुम इसी आचरण से राजदूतत्व का निर्वाह करते हो ?

धवलकीर्ति–सम्राट् मैं लज्जित हूँ !

समुद्रगुप्त—राजदूत ! मुझे तुम पर पहले ही कुछ शंका हो रही थी। मणिभद्र की आत्म-हत्या के विचार पर तुम मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे, राजमहिषी कुमारिला के कंठ-हार के रत्नों की पवित्रता का संदेश जतलाकर तुम राज्याधिकार को लांछित करना चाहते थे, तुम इसीलिए शिल्पियों पर प्रसन्न हुए कि वे रत्न-खंडों के लिए अधिक जिज्ञासा न करें, तुम रत्नप्रभा के नृत्य के पूर्व ही चले जाना चाहते थे जिससे तुम रत्नप्रभा के समक्ष दोषी होने से बच सको। मैंने इसीलिए आज वीणा बजाई जिससे संगीत के वातावरण में अपराधी विह्वल हो जाय

और अपना रहस्य खोल दे! नहीं तो मर्यादा के संकट में संगीत की क्या आवश्यकता? तुम मेरे ही राज्य में आकर विष का बीज बोना चाहते हो? बोलो! तुम्हें क्या दण्ड दिया जाय?

धवलकीर्ति—सम्राट्, जो चाहें मुझे दण्ड दें!

समुद्रगुप्त—तुम जानते हो, धवलकीर्ति! राजदूत दण्डित नहीं होता! इसीलिए तुम निर्भीकता से कहते हो, सम्राट् जो चाहें मझे दण्ड दें। किन्तु तुम यह ठीक तरह से समझ लो कि समुद्रगुप्त पराक्रमांक न्याय को देवता मानकर पूजता है और अन्याय को दैत्य समझकर उसका विनाश करता है। मैं अपने महासामन्त सिरिमेघवन्न से तुम्हारे दण्ड की व्यवस्था कराऊँगा। तुमने राजमहिषी कुमारिला के रत्न-खंडों को स्वयं कलुषित किया है, मणिभद्र के प्राण संकट में डाले हैं, राजनर्त्तकी को मर्यादा के पथ से विचलित करने का प्रयत्न किया है! दण्ड तुम्हें पाकर सुखी होगा!

धवलकीर्ति—सम्राट्! मुझे अधिक लज्जित न कीजिए! मैं स्वयं परिताप की अग्नि में जल रहा हूँ।

समुद्रगुप्त—उस परिताप की अग्नि के प्रकाश में क्या यह स्पष्ट कर सकते हो कि ये रत्न-खंड तुमने मणिभद्र की संरक्षा से किस प्रकार मुक्त किये?

धवलकीर्ति—अपने अन्तिम समय में मैं असत्य भाषण नहीं करूँगा, सम्राट्! आपको अभी ज्ञात हुआ कि शिल्पियों की कार्य समाप्ति के पूर्व ही शिल्पियों को मैंने प्रसन्न हो निश्चित् पारिश्रमिक दे दिया और वह इसलिए कि जब मेरे सामने मणिभद्र उन्हें देने के लिए स्वर्ण-मुद्राएँ गिने तो मैं मणिभद्र का ध्यान सिंहल की मुद्राओं की विशेषता की ओर बार-बार आकर्षित करूँ और ऐसे ही किसी अवसर पर मैं वे रत्न-खंड दृष्टि बचाकर मंजूषा

में से निकाल लूं। अपने कार्य की सरलता के कारण ही मैंने उन रत्नों को भांडागार के भीतरी प्रकोष्ठ में न रखने का परामर्श मणिभद्र को दिया था।

समुद्रगुप्त--फिर रत्नप्रभा को तुमने किस विचार से ये रत्न भेंट किये ?

धवलकीर्ति--मैंने उससे नृत्य करने की प्रार्थना की, किन्तु उसने कहा कि मैं सम्राट् की आज्ञा के बिना किसी दूसरे के समक्ष नृत्य नहीं करूँगी। मैंने बार-बार प्रार्थना की और उसकी सुन्दरता के अनुरूप ही हीरक-खंडों की भेंट की। उसने मौन होकर वे रत्न-खंड ले लिये। न जाने क्या सोचकर और क्या समझकर !

समुद्रगुप्त--फिर रत्नप्रभा ने तुम्हारे सामने नृत्य किया ?

धवलकीर्ति--नहीं, सम्राट् ! उसने फिर भी अस्वीकार किया।

समुद्रगुप्त--रत्नप्रभा ! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ ! अब स्वीकार करो अपना यह पुरस्कार।

[हाथ में रखी हुई माला देते हैं।]

रत्नप्रभा--(**माला लेकर सिर झुकाकर**) सम्राट् ! आपकी प्रसन्नता में ही मेरे पुरस्कृत होने की सार्थकता है।

समुद्रगुप्त--मेरे साम्राज्य में इस प्रकार का अन्याय नहीं हो सकता, इसी बात से मैं सुखी हूँ।

धवलकीर्ति--सम्राट् ! मुझे और किसी प्रश्न का उत्तर देना है ?

समुद्रगुप्त--नहीं ! अब केवल महासामन्त को सूचना देनी है कि राजमहिषी के रत्न-खंडों को भगवान् बुद्धदेव की श्रद्धा में समर्पित न कर राजनर्त्तकी को भेंट करने के अपराध में जो दण्ड-व्यवस्था हो, उसका प्रबन्ध करें।

धवलकीर्ति--सम्राट् ! आप उन्हें सूचना देने का कष्ट न उठाएँ ! मैंने मणिभद्र के साथ विश्वासघात किया, राजमहिषी के हीरक-खंडों को कलुषित किया, राजनर्त्तकी को मर्यादा से विचलित करने की चेष्टा की, और सम्राट् ! आपके प्रायश्चित करने का अवसर

उपस्थित किया, इन सबका सम्मिलित दण्ड बहुत भयानक है। यदि मुझे सौ बार प्राणदण्ड दिया जाय, तब भी वह पर्याप्त नहीं है! मैं अपनी ओर से सबसे बड़ा दण्ड स्वयं अपने को दे रहा हूँ और वह है आत्महत्या!

[कटार अपने हृदय में मार लेता है और सम्राट के समक्ष ही गिर पड़ता है। मणिभद्र और राजनर्त्तकी के मुख से आश्चर्य और दुःख की ध्वनि]

समुद्रगुप्त—स्वयं दण्डित होने से अब तुम अपराधों से मुक्त हुए, धवलकीर्ति! तुमने अपने नाम को धवल ही रहने दिया!

धवलकीर्ति–(**अस्फुट स्वरों में**) मैं. . . .राजमहिषी को. . . . .अपना मुख. . . .नहीं. . . .दिखला सकता था . . .सम्राट्! मेरी. . . कला की. . . . उपासना. . . असत्य है! मुझे. . . .शान्ति. . . से. . . .मरने. . . .दें! आपका. . . .संगीत. . . . .।

समुद्रगुप्त—हाँ, धवलकीर्ति! मैं तुम्हें संगीत सुनाऊँगा। राजनर्त्तकी! तुम नृत्य करो! सच्चे अपराधी की मृत्यु को मंगलमय बनाओ! मणिभद्र के स्थान पर धवलकीर्ति को विजय-विदा दो! मैं भी वीणा-वादन करूँगा। शिल्पियों को मुक्त कर यहाँ आने का निमंत्रण दो! आज धवलकीर्ति मृत्यु के समय मेरा मंगल-वाद्य सुने! राजनर्त्तकी! नृत्य शीघ्र प्रारम्भ हो!

[राजनर्त्तकी नृत्य करने के लिए प्रस्तुत होती है और सम्राट् समुद्रगुप्त अपने हाथ में वीणा लेकर स्वर छेड़ते हैं।]

[परदा गिरता है।]

राज्यश्री

नाटक के पात्र

पुरुष-पात्र

१ **सम्राट हर्षवर्द्धन**—स्थाण्वीश्वर के सम्राट।

२ **दिवाकर**—विन्ध्याटवी आश्रम के आचार्य।

३ **माधव**—सम्राट हर्षवर्द्धन का सेवक।

४ **सुबन्धु**
५ **तारक** } —आचार्य दिवाकर के शिष्य।

भिक्षु, शिष्य, सैनिक आदि।

स्त्री-पात्र

१ **राज्यश्री**—सम्राट हर्षवर्द्धन की बहिन।

२ **मेनका**
३ **विराजिका** } —राज्यश्री की सहचरियाँ

४ **शिप्रा**—चित्रक की पत्नी।

समय—प्रभात

विन्ध्याटवी में दिवाकर मित्र का आश्रम। प्रभात की अनुपम शोभा श्री। पक्षियों का कलरव।

[**तारक मन्द स्वर में पाठ करता हुआ**]

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(धीरे-धीरे) इस लोक में कर्म करते हुए भी सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे। अतः तेरे लिए इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है कि तू कर्म में लिप्त न हो।

सुबन्धु— (**समीप आता हुआ**) आयुष्मान्।

तारक— क्या है सुबन्धु?

सुबन्धु— एक बात कहना चाहता हूँ।

तारक— कहो !

सुबन्धु— तुम मंत्र-पाठ करते हो। अग्निहोत्र करने जा रहे हो पर तुम्हें इस बात का दुःख नहीं है कि रात्रि में विन्ध्याटवी की पूर्वी सीमा पर इतनी बड़ी आग लगी थी।

तारक— आग लगी थी? यदि मैं इन्द्र होता तो पर्जन्यों से धारासार वृष्टि करता।

सुबन्धु— किन्तु जब तुम इन्द्र नहीं बन सके तो मनुष्यत्व का अभिमान रखनेवाले तारक ! तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं रहा ?

तारक— कर्तव्य ? वन में जब आग लग जाय तो मनुष्य किस कर्त्तव्य का पालन करे ?

सुबन्धु— तुम भूल करते हो, तारक ! मनुष्य का कर्तव्य जीवन की रक्षा करना है। तुम वन की आग नहीं बुझा सकते; किन्तु आग में जलते हुए प्राणियों की रक्षा तो कर सकते हो।

तारक— किस तरह ? भगवान् की प्रार्थना करते हुए ।

सुबन्धु— नहीं ! पेड़ पर न जाने कितने पक्षि-शावक होंगे जो उड़ना नहीं जानते। अपने नीड़ों में ही वे जलकर मर जायँगे। उन्हें तुम नीड़ समेत बचा सकते ! चारों दिशाओं में आग लगने पर एक दिशा की आग को फैलने से रोका जा सकता है, जिससे उसी दिशा से जीव-जन्तु भाग सकें ।

तारक— (हंसकर) तुम बौद्ध हो न, सुबन्धु !

सुबन्धु— बौद्ध होना जीवन का सत्य है। तथागत ने आर्य सत्य का आख्यान किया है। दुःख, दुःख सुमुदश्य, दुःखनिरोध, दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा । इन्हीं से चार आर्य सत्यों का आख्यान तथागत ने किया।

तारक— शास्त्रार्थ न करो, सुबन्धु ! मुझे अग्निहोत्र के लिए देर हो रही है।

सुबन्धु— मुझे क्षमा करना, तारक ! तुम्हारे अग्निहोत्र में बाधक हुआ। वह तो आचार्य दिवाकर मित्र अभी विन्ध्याटवी से लौटे, तो उन्होंने अश्रुपूर्ण नेत्रों से कहा, कि आज की अग्नि भयानक थी। उन्होंने न जाने कितने पक्षि-शावकों के प्राणों की रक्षा की।

तारक— अच्छा ! यह बात थी ! हाँ, आचार्य तो संध्या को ही लौटने को थे ! हम सब उनके सम्बन्ध में चिंतित थे !

सुबन्धु— वे ऊषाकाल में आये। उन्होंने कहा कि रात भर वे चारों

शिष्यों के साथ अग्नि का मार्ग रोकते रहे और अग्नि-शून्य दिशा से जीव-जन्तु को भागने की सुविधा देते रहे।

तारक— वे आश्रम में सूचना भिजवा देते तो अनेक शिष्य पहुँच जाते।

सुबन्धु— मैंने भी उनसे यही निवेदन किया; किन्तु उन्होंने कहा कि उनके चार शिष्य पर्याप्त थे। फिर जब तक एक शिष्य समाचार देता और अन्य शिष्य आते, तब तक न जाने कितने जीवों की हानि हो जाती।

तारक— तो आचार्य को बहुत कष्ट हुआ।

सुबन्धु— वे कहते हैं कि यही मेरा जीवन-यज्ञ है।

तारक— तो इस जीवन-यज्ञ के संबंध में . . .

[एक भिक्षु के साथ एक स्त्री का प्रवेश]

स्त्री— (**करुण स्वर में**) नहीं! नहीं! मैं किसी को कष्ट नहीं देना चाहती!

भिक्षु— कष्ट कैसा, देवी! आचार्य दिवाकर मित्र के आश्रम में कष्ट नहीं है। यहाँ आकर तुम्हारा कष्ट भी दूर हो जायगा।

स्त्री— मेरे हाथ में यह कृपाणी और मेरे वस्त्र में रक्त के धब्बे देखकर इस पवित्र आश्रम में कोई क्या कहेगा!

तारक— यही कि आप साक्षात् दुर्गा हैं, देवी। आप का शुभ नाम क्या है?

भिक्षु— इनका शुभ नाम शिप्रा है। एक डाकू का आक्रमण निष्फल बना कर इन्होंने उसी पर आक्रमण किया। उसके शरीर का रक्त तो इनकी कृपाणी और वस्त्र पर रह गया; पर वह भाग गया।

तारक— आप वास्तव में दुर्गा हैं। वह डाकू कौन था देवी।

शिप्रा— मेरे पतिदेव विदेश गये हुए हैं। मैं अकेली बन ग्रामक में रहती थी। एक दस्यु ने मेरे एकाकीपन का लाभ उठाकर मेरा धन चुराने के लिए रात्रि में मेरे घर में प्रवेश किया।

सुबन्धु— विन्ध्याटवी में भी दस्यु हैं!

शिप्रा— मैं जाग रही थी। मुझे जागते देखकर दस्यु ने मुझ पर प्रहार किया; किन्तु सिरहाने रखी हुई पति की तलवार से मैंने आक्रमण रोक लिया।

तारक— साधु! साधु! देवी।

शिप्रा— मैंने उसे घर से निकल जाने को कहा। जब वह नहीं हटा तो मैंने उस पर प्रहार किया। उसके शरीर से रक्त की धारा बह निकली; किन्तु वह भाग गया।

तारक— तुम धन्य हो, देवी! तुम्हें तो कोई चोट नहीं लगी!

शिप्रा— मेरे पैरों में कुछ चोटें अवश्य लगी हैं; किन्तु अधिक नहीं! मेरे वस्त्र उसके रक्त से अवश्य भीग गये हैं। में इसकी सूचना अटवी सामंत व्याघ्रकेतु को देने के लिए जा रही थी कि महात्मा भिक्षु मुझे यहाँ ले आये।

सुबन्धु— आपकी क्या सेवा की जाय, देवी!

भिक्षु— मैंने सोचा दस्यु से संघर्ष करने में देवी का कंठ सूख गया होगा। आश्रम में ले जाकर इन्हें शीतल जल पिला दूं!

सुबन्धु— ठीक किया, भन्ते! **(शिप्रा से)** देवी! आप शीतल जल पान कर कुछ विश्राम करें फिर अटवी सामन्त के समीप जावें। यह आचार्य दिवाकर मित्र का आश्रम है। यहाँ किसी प्रकार की असुविधा नहीं होगी।

शिप्रा— धन्यवाद। मैं शीघ्र ही सामन्त से परिस्थिति का निवेदन करना चाहती हूँ, यदि इस पर ध्यान न दिया जायगा तो अनेक स्त्रियों के लिए संकट उपस्थित हो सकता है।

सुबन्धु— आपका कथन यथार्थ है। यदि आप आवश्यक समझें तो मैं भी साथ चलूं।

शिप्रा— नहीं, धन्यवाद! मुझे कोई भय नहीं है, आप कष्ट न करें!

तारक— इस आश्रम में बिना आतिथ्य ग्रहण किये कोई नहीं, जाता देवी!

शिप्रा— आप जैसे महात्माओं के दर्शन ही अतिथि को तृप्त कर देते हैं। फिर मैं अतिथि भी नहीं हूँ।

सुबन्धु— अस्तु, आप शीतल जल ग्रहण करें तब जावें। **(भिक्षु से)** भन्ते! इन्हें रेवा का शीतल जल पान कराओ।

भिक्षु— चलो, देवी!

शिप्रा— मैं कृतार्थ हुई। मै अभिवादन करती हूँ।

सुबन्धु— स्वस्ति।

[**भिक्षु के साथ शिप्रा का प्रस्थान**]

तारक— कैसी दिव्य शक्ति और कैसा दिव्य सौन्दर्य।

सुबन्धु— तुम्हें अग्निहोत्र के लिए देर हो रही होगी, तारक !

तारक— इस अग्नि-शिखा की वन्दना किसी अग्निहोत्र से कम नहीं है। मैं सोचता हूँ, सुबन्धु कि यदि इस देवी में आक्रमण करने की शक्ति न होती तो क्या होता?

सुबन्धु— उसके धन का अपहरण। और संसार के दुःखों से छूटने में उसे सुविधा होती। धन संसार का बन्धन ही तो है।

तारक— यदि धन के साथ उसका भी अपहरण हो जाता तो !

सुबन्धु— आर्यावर्त की नारी इतनी हीन नहीं है कि दस्यु उसका अपहरण करे।

तारक— **(सोचते हुए)** हाँ, यह तो ठीक है। धन का अपहरण ही होता

[**एक सैनिक का प्रवेश**]

सैनिक— महात्माओं को प्रणाम !

तारक— कौन हो तुम, सैनिक !

सैनिक— मैं स्थाण्वीश्वर नरेश महाराज हर्षवर्द्धन का दूत हूँ। क्या आचार्य दिवाकर मित्र का आश्रम यही है?

तारक— हाँ। आचार्य दिवाकर मित्र का आश्रम यही है। किन्तु महाराज हर्षवर्द्धन के दूत को यहाँ आने की क्या आवश्यकता प्रतीत हुई!

सैनिक— क्षमा करें, वह निवेदन आचार्य के समक्ष ही किया जा सकेगा।

सुबन्धु— अभी आचार्य स्नान-गृह में हैं। वे उषाकाल ही में विन्ध्याटवी से लौटे हैं।

सैनिक— मैं एक बात पूछ सकता हूँ?

सुबन्धु— अवश्य !

तारक— यह आश्रम तो सभी प्रश्नों का समाधान है, दूत !

सैनिक— आप के आश्रम में महादेवी आयी थीं ?

सुबन्धु— महादेवी ! नहीं। एक स्त्री आयी थी। अभी-अभी तो वह यहीं थी। रक्त से उसके वस्त्र भीग गये थे।

सैनिक— (**चौंककर**) रक्त से ?

तारक— उसके हाथ में एक कृपाणी भी थी। उसके मुख पर अलौकिक तेज था।

सैनिक— (**उद्विग्नता से**) वही होंगी। वही होंगी, वही हैं।

तारक— कौन ? कौन वही हैं दूत ?

सैनिक— महादेवी राज्यश्री ?

सुबन्धु— महादेवी राज्यश्री !

तारक— स्थाण्वीश्वर नरेश की छोटी बहिन !

सैनिक— हाँ, वे विन्ध्याटवी की ओर चली आयी हैं।

सुबन्धु— विन्ध्याटवी में तो चारों ओर आग लगी थी। सारी रात आचार्य वहीं थे।

तारक— किन्तु वे महादेवी राज्यश्री नहीं होंगी दूत !

सैनिक— आप कहते हैं कि उनके हाथ में कृपाणी थी।

तारक— कृपाणी तो प्रत्येक नारी के हाथ में रह सकती है। (**सुबन्धु**)—देखो सुबन्धु वह स्त्री आश्रम में हैं ?

सुबन्धु— मैं अभी देखता हूँ। (**प्रस्थान**)

तारक— उसके हाथ में कृपाणी थी। उसके वस्त्र रक्त से भीग गये थे।

सैनिक— उनके पैरों में चोट लगी थी?

तारक— हाँ, उनके पैरों में चोट अवश्य थी।

सैनिक— तब तो वे महादेवी ही होंगी। लौह शृंखला से कसे जाने पर उनके पैर अवश्य, क्षत-विक्षत हो गये होंगे।

तारक— लौह शृंखला? लौह शृंखला से नहीं दूत! उन्होंने एक दस्यु से युद्ध किया था।

सैनिक— महाराज गृहवर्मा का घातक, मालवा नरेश देवगुप्त किस दस्यु से कम है। ओह! क्षमा करें महात्मा। आचार्य दिवाकर मित्र से निवेदन करने की वार्ता मेरे मुख से अनायास ही...

तारक— कोई हानि नहीं, दूत! यह वार्त्ता मंत्र की भाँति गुप्त और सुरक्षित रहेगी। यह आश्रम नीति का तपोवन है। राजनीति का नहीं (**देखकर**) अच्छा, सुबन्धु आ गये। उस स्त्री का क्या समाचार है, सुबन्धु!

[**सुबन्धु का प्रवेश**]

सुबन्धु— खेद है कि वह स्त्री जल पीने के उपरान्त ही आश्रम से चली गयी।

सैनिक— तब मुझे यह सूचना महाराज की सेवा में निवेदन करनी होगी।

तारक— महाराज कहाँ हैं?

सैनिक— विन्ध्याटवी की पश्चिमी सीमा पर।

सुबन्धु— पश्चिमी सीमा पर! ठीक है। आग तो पूर्वी सीमा पर लगी थी।

सैनिक— महाराज तीव्र गति से विन्ध्याटवी का एक-एक भाग देखेंगे। वायु की भाँति उनकी गति है। वे अपनी बहिन को खोजकर ही रहेंगे।

तारक— इस प्रसंग से हम सब दुखित हैं, सैनिक!

सैनिक— महाराज हर्षवर्द्धन सर्वप्रिय नरेश हैं। तो महात्मन्! अब

आचार्य स्नान-गृह से बाहर आवें तो उन्हें महाराज के आगमन की सूचना अवश्य दे दें।

सुबन्धु— अब तो वे पूजन-गृह में होंगे। उनके आते ही यह सूचना उनकी सेवा में निवेदित की जायगी। आचार्य के शिष्यों की ओर से उनका इस आश्रम में स्वागत है।

सैनिक— प्रणाम। **(प्रस्थान)**

तारक— महाराज हर्षवर्द्धन की बहिन! क्यों सुबन्धु! क्या वह स्त्री महाराज हर्षवर्द्धन की बहिन हो सकती है?

सुबन्धु— मेरे अनुमान से नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्त्री कहती थी कि मैं वन ग्रामक में रहती हूँ और मेरे पति विदेश गये हैं। महारानी राज्यश्री के पति तो **(कन्नौज)** के नरेश हैं।

तारक— किन्तु राजनीति में कूटनीति भी तो एक अंग है। संभव है महादेवी राज्यश्री ने छद्मवेश धारण कर दस्यु से युद्ध करने का अभिनय किया हो। कृपाणी पर लगा हुआ रक्त कोई रासायनिक द्रव्य ही हो।

सुबन्धु— मैं ये सब बातें कुछ नहीं जानता। मनुष्य को पहिचानने की सामान्य बुद्धि मुझमें है। उस स्त्री की भावभंगिमा से मुझे ज्ञात नहीं होता कि वह राजकुल की है। फिर इस आश्रम में आकर उस स्त्री को असत्य भाषण करने की क्या आवश्यकता हुई।

तारक— किन्तु उसके पैर में चोट थी। दूत भी कहता था कि महादेवी राज्यश्री के पैरों में चोट है।

सुबन्धु— ठीक है किन्तु महादेवी राज्यश्री अकेले यहाँ कैसे आ सकती हैं? उनके साथ तो अनेक स्त्रियों का समूह होगा।

[**एक शिष्य का प्रवेश**]

शिष्य— आचार्य पूजा समाप्त कर इस बाहरी कक्ष में आ रहे हैं। **(प्रस्थान)**

सुबन्धु— हमें समस्त घटना-चक्र आचार्य के समक्ष रखना चाहिए।

तारक— और महाराज हर्ष के विन्ध्याटवी तक आ जाने का समाचार जो दूत ने कहा है, वह तो उन्हें सुनाना ही चाहिए। **(आचार्य दिवाकर मित्र का पादुका पहने हुए प्रवेश। सुबन्धु और तारक उन्हें प्रणाम करते हैं ।)**

सुबन्धु— भन्ते के श्रीचरणों में प्रणाम !

तारक— भन्ते के श्रीचरणों में प्रणाम ! आसन ग्रहण कीजिए, भन्ते !

दिवाकर— **(गंभीर स्वर में)** स्वस्ति। तरुण बीजों को जल न मिलने से जो विकार होता है, वैसा विकार तो किसी के हृदय में नहीं है। माता को देखने पर शिशु के मन में जो विकार होता है, वैसा विकार तो किसी में नहीं हुआ।

सुबन्धु— भन्ते ! आशीर्वाद देने के लिए उठे हुए आपके हाथ की शीतल छाया सभी प्रकार के तापों को दूर कर देती है।

तारक— किन्तु भन्ते ! कुछ देर पहले एक स्त्री आयी थी।

दिवाकर— इस आश्रम में स्त्री ?

सुबन्धु— उसके वस्त्र रक्त से भीगे थे। और उसके हाथ में एक कृपाणी थी।

तारक— कहती थी कि उसने एक दस्यु से युद्ध किया है।

दिवाकर— वह स्त्री ! पहले मैं समझा वे महादेवी राज्यश्री हैं। किन्तु राज्यश्री नहीं हैं। वह स्त्री एक सामान्य गृहस्थ की स्त्री है। दस्यु उसके धन का अपहरण करने के लिए उसके घर में घुसा था।

तारक— आप यह कैसे जानते हैं ?

दिवाकर— मैंने लौटते समय उस दस्यु के घावों को धोया था और जड़ी का लेपन किया था। उसने सारी कथा मुझसे कही। अब से उसने दस्यु-कर्म सदैव के लिए छोड़ दिया।

सुबन्धु— आप के संपर्क में आकर दुष्ट भी अपनी दुष्टता छोड़ देता है।

तारक— एक समाचार और है, प्रभु ! विन्ध्याटवी की पश्चिमी सीमा पर महाराज हर्षवर्द्धन आये हुए हैं। उनका सैनिक यह सूचना आपको सुनाना चाहता है।

दिवाकर— हर्षवर्द्धन, तुम धन्य हो। आर्यावर्त का भविष्य तुम्हारे ही हाथों में है।

तारक— सैनिक ने यह भी कहा कि महाराज तीव्र गति से विन्ध्याटवी का एक-एक भाग देखेंगे। वायु की भाँति उनकी गति है। वे अपनी बहिन को खोजकर ही रहेंगे।

दिवाकर— यह आश्रम उनके साथ होगा।

सुबन्धु— भन्ते ! वह सैनिक कुछ बातें अस्पष्ट ढंग से कह गया। वह मालव-नरेश देवगुप्त को दस्यु कह रहा था। और महादेवी राज्यश्री का नाम भी ले रहा था।

दिवाकर— यह दारुण संवाद है, सुबन्धु ! मैंने इसे वेणुवन जनपद की सीमा पर सुना। शिष्य चित्रभानु को देखकर लौट रहा था कि यह दारुण संवाद मुझे मिला।

तारक— क्या हम लोग उसे सुन सकेंगे, भन्ते !

दिवाकर— कुशस्थल नरेश महाराज ग्रहवर्मा अब इस संसार में नहीं रहे। (**मन्द स्वर में**) वे मेरे बाल्य बन्धु थे।

सब— (**चौंककर**) नहीं रहे ?

दिवाकर— जिस दिन स्थाण्वीश्वर नरेश प्रभाकर वर्द्धन की मृत्यु हुई उसी दिन मालव नरेश देवगुप्त ने ग्रहवर्मा की हत्या की।

सुबन्धु— घोर अनर्थ !

दिवाकर— और सब से भयानक बात यह है कि देवगुप्त ने ग्रहवर्मा की हत्या कर उनकी महादेवी राज्यश्री को लौहश्रृंखलाओं में कसकर कारागार में डाल दिया।

तारक— सैनिक भी कह रहा था कि लौहश्रृंखला से कसे जाने के कारण उनके पैर क्षत-विक्षत हो गये हैं।

दिवाकर— हाँ, वे लौहश्रृंखलाओं से कसी गयी थीं; किन्तु गुप्त नामक कुलपुत्र द्वारा वे अन्तःपुर की समस्त स्त्रियों सहित मुक्त हुईं और छिपकर इसी विन्ध्याटवी में आ गयी हैं।

तारक— तब तो हमें उन्हें शीघ्र ही खोजना चाहिए।

सुबन्धु— इस समय तक उन्होंने कहीं आत्म-हत्या न कर ली हो। क्योंकि वर्द्धन वंश की स्त्रियाँ अग्नि को अपनी सहचरी मानती हैं।

दिवाकर— इसीलिए मैं कल रात विन्ध्याटवी में रुक गया था। जब मैंने उसमें अग्नि लगी हुई देखी तो मैं उत्सुकता से उन्हीं की खोज करने लगा। मैं केवल पक्षि-शावकों तथा जीव-जंतुओं की रक्षा कर सका, उन्हें कहीं नहीं पा सका।

तारक— महाराज हर्षवर्द्धन के हृदय में अपनी छोटी बहिन के प्रति इतना प्रेम है कि वे प्रचंड शत्रु को पराजित किये बिना ही अपना देश मंत्रियों पर छोड़कर राज्यश्री को खोजने के लिए विन्ध्याटवी में सामान्य व्यक्ति की भाँति भटक रहे हैं।

[**समीप ही शंख-ध्वनि**]

[**शिष्य का-प्रवेश**]

शिष्य— भन्ते के श्रीचरणों में अभिवादन। महाराज हर्षवर्द्धन आश्रम में पधारे हैं।

दिवाकर— (**सहसा उठकर**) महाराज हर्षवर्द्धन! उनका स्वागत करो!! आयुष्मन् सुबन्धु और तारक! तुम शीघ्र ही कमंडल में पैर धोने का जल लाओ। वे स्वयं अमृतमय हैं।

[**तारक और सुबन्धु का प्रस्थान**]

[**फिर शंखनाद। महाराज हर्षवर्द्धन का माधवगुप्त के साथ प्रवेश**]

हर्ष— आचार्य दिवाकर मित्र को हर्ष का प्रणाम!

माधव— माधवगुप्त का अभिवादन स्वीकार हो!

दिवाकर— कल्याण हो, राजन्! कल्याण हो! मेरे आसन को सुशोभित करें।

हर्ष— भन्ते! समस्त पृथ्वी को जीतने पर भी जिस सिंहासन पर हर्ष आसीन होगा, वह सिंहासन भी आपके आसन से नीचा ही रहेगा। आचार्य का आसन श्रद्धा का केन्द्र है। उस पर बैठकर हर्ष लांछित नहीं होगा। मेरे लिए तो पृथ्वी का आसन ही ऊँचा आसन है।

दिवाकर— राजन्! आप वीरों में श्रेष्ठ हैं, पुरुष सिंह हैं। आपके लिए तो गुणियों का हृदय ही आसन है।

हर्ष— नहीं, आचार्य! जिस हर्ष के हृदय की अवस्था ऐसी है कि उसने श्री को शाप मान लिया है, पृथ्वी जिसे महापातक की भाँति ज्ञात हो रही है, राज्य जिसे रोग की भाँति घेरे हुए है, भोग जिसे भुजंग की भाँति ज्ञात होता है, घर जिसे नर्क की भाँति भयानक लगता है, जीवन अयश का केन्द्र और आरोग्य कलंक का विस्तार प्रतीत होता है, जिसके आहार में विष का स्वाद है, वह प्रत्येक आसन से गिर गया है! आप के पुण्य-दर्शन से उसे कुछ आधार मिले तो उसका सौभाग्य होगा!

दिवाकर— राजन्! मैं आपके हृदय की स्थिति समझता हूँ। आप राज्य की धुरी धारण करनेवाले हैं। आप शान्त और सुखी हों। **(तारक और सुबन्धु का कमंडल में जल लिये हुए प्रवेश)** तुम आ गये? अपने मान्य अतिथि के चरणों का प्रक्षालन करो।

माधव— विन्ध्याटवी में कुश-कंटकों से महाराज के चरण क्षत-विक्षत हो गये हैं।

हर्ष— मेरा हृदय चरणों की अपेक्षा अधिक क्षत-विक्षत है, आचार्य!

दिवाकर— सौभाग्य आप के आश्रय में भाग्यवान् हैं। पौरुष आपके हृदय में धन्य है। क्षत-विक्षत होने पर भी हृदय में मंगल का विकास

है। हाँ सुबन्धु! चरणों का प्रक्षालन करो। (सुबन्धु जल लेकर बढ़ता है।)

हर्ष— नहीं आचार्य! आपके संभाषण रूपी अमृत से मेरा समस्त शरीर प्रक्षालित हो चुका, अब एक अंग का प्रक्षालन व्यर्थ है। आप अपने आसन पर आसीन हों। मेरे लिए यह पृथ्वी ही श्रेष्ठ आसन है (पृथ्वी पर बैठ जाता है।)

दिवाकर— आप जैसे पुण्यात्मा को देखकर मोक्ष की इच्छा रखते हुए भी मुझे मनुष्य शरीर में श्रद्धा हो गयी है। यह आश्रम सब प्रकार से आपके सत्कार के लिए प्रस्तुत है।

हर्ष— आचार्य! हर्ष को किसी सत्कार की आवश्यकता नहीं है। दुर्भाग्य की साँसों ने ही उसे जीवन दिया है। महाप्रलय की भाँति पिता का मरण, उसके पूर्व ही जननी यशोमती का अग्निप्रवेश, फिर भगिनी-पति ग्रहवर्मा का वध, उसके अनन्तर जेष्ठ बन्धु राज्यवर्द्धन की हत्या और बहिन राज्यश्री को कारागृह। ये सब घटनाएँ उस दुर्भाग्य के चरणचिह्न हैं जो मेरे जीवन के श्मशान में यात्रा कर रहा है। आचार्य! दुर्भाग्य की यह यात्रा क्या मेरी जीवन-यात्रा से भी बड़ी हो गयी ?

दिवाकर— राजन्...... !

हर्ष— जिस प्रकार एक लौहदंड बार-बार पत्थर पर चोट मारकर चिनगारियाँ उत्पन्न करता है; किन्तु उस पत्थर को भस्म नहीं करता, उसी प्रकार दुर्भाग्य मुझे तिल-तिल कर जलाता है, भस्म नहीं करता!

दिवाकर— वह भस्म कभी नहीं कर सकेगा, राजन्! अग्नि वायु का भक्षण कर प्रज्वलित होती है; किन्तु वही वायु जब आँधी बन जाती है तब अग्नि एक क्षण में समाप्त हो जाती है। आप के हृदय में साहस की वह आँधी है, राजन्!

हर्ष— वह आँधी उस समय से उत्पन्न हुई है, आचार्य! जब जननी

यशोमती ने अग्नि में प्रवेश किया! वैदेही की भाँति अपने पति के सामने ही उन्होंने अग्नि की शीतलता ग्रहण की! वीर-जाया और वीर-जननी के साहस के समक्ष राज-परिवार और प्रजा-वर्ग के अनुरोध निर्बल सिद्ध हुए! मेरे आँसू भी जननी के दृढ़ निश्चय की शिला पर सूख गये! तब से उनका ही साहस मेरे प्राणों में समा गया है। कष्ट के तीखे काँटों को मैंने उन्हीं साहस की उँगलियों से उखाड़कर फेंका है और प्रधान अधिकारी अवन्ति द्वारा यह घोषणा करा दी है कि पृथ्वी से उदयाचल तक, सुवेल पर्वत तक, अस्ताचल तक, गन्धमादन पर्वत तक राजाओं की मुकुट-मणियों के आलोक से बना हुआ लेप मेरे चरणों का कष्ट दूर करेगा। किन्तु आचार्य! इस समय मेरे चरणों का कष्ट तब दूर होगा, जब इस विन्ध्याटवी में खोयी हुई मेरी बहिन राज्यश्री मुझे मिल जाय! आप इस विन्ध्याटवी के कण-कण से परिचित होंगे। आपको मेरी बहिन राज्यश्री की सूचना है?

माधव— आचार्य! महादेवी राज्यश्री के खो जाने से महाराज को बहुत कष्ट है।

दिवाकर— राजन्! शत्रु से अपमानित होने के भय से ही राज्यश्री विन्ध्याटवी में आयी हैं, ऐसी सूचना अवश्य है। आपका साहस और मेरा विश्वास राज्यश्री को अवश्य ही आपके समीप ले आयेगा।

हर्ष— आचार्य! मेरे सभी प्रिय स्वजन संसार छोड़ चुके हैं! एक मात्र छोटी बहिन राज्यश्री ही बची है। मुझे आशंका है कि पति की मृत्यु हो जाने के कारण कहीं वह भी अपने को अग्नि में समर्पित न कर दे! उसके सामने अपनी जननी का आदर्श है जिसने अपने पति के आसन्न वियोग ही में अपने प्राणों की आहुति दे दी।

दिवाकर— आश्रम का यह कितना बड़ा सौभाग्य होता यदि वह आपको प्रिय संवाद का उपहार दे सकता; किन्तु इसी समय में आश्रम के सभी शिष्यों को आदेश दूंगा कि वे विन्ध्याटवी की चारों दिशाओं में बिखर कर महादेवी राज्यश्री का पता लगावें। सुबन्धु और तारक!

सुबन्धु— आज्ञा प्रभु!

[**भिक्षु का प्रवेश**]

भिक्षु— आचार्य को प्रणाम। एक स्त्री आश्रम-द्वार पर है।

हर्ष— (**चीत्कार के स्वर में**) राज्यश्री!

भिक्षु— नहीं, राजन्। वह स्त्री अभी कुछ देर हुए आश्रम से शीतल जल पान करके गयी थी। वह आचार्य के दर्शन करना चाहती है।

दिवाकर— उसे शीघ्र ही भीतर लाओ।

भिक्षु— जो आज्ञा (**प्रस्थान**)

दिवाकर— वह चित्रक की पत्नी है। उसने दस्यु पर आक्रमण किया था और अपनी कृपाणी से उसके शरीर पर गहरा घाव कर दिया था। वह वीर नारी है।

[**शिप्रा का प्रवेश**]

शिप्रा— शिप्रा आचार्य के चरणों में प्रणाम करती है।

आचार्य— स्वस्ति!

शिप्रा— मेरा अपराध नहीं है, आचार्य! मैंने अपनी ओर से अनेक प्रार्थनाएँ कीं; किन्तु उनका परिणाम कुछ नहीं हुआ। अब आप ही रक्षा करें!

आचार्य— मैं जानता हूँ, भद्रे! किन्तु इसका निर्णय अटवी-सामन्त व्याघ्रकेतु करेंगे। दस्यु पर प्रहार करने में क्या अपराध हुआ? इस आश्रम से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

शिप्रा— किन्तु आचार्य! व्याघ्रकेतु इसका निर्णय नहीं कर सकते। आपके प्रभाव से ही रक्षा हो सकती है।

आचार्य— भद्रे ! इस समय अवकाश नहीं है। उस पर फिर कभी विचार होगा।

शिप्रा— आचार्य ! इस समय अवकाश निकालना ही होगा। नहीं तो अनर्थ हो जायगा ! बड़ी भयानक अग्नि की लपटें उठ रही हैं !

आचार्य— उन्हें शान्त करो, भद्रे ! इस समय दूसरी समस्या आश्रम के सामने है। हृदय की ज्वाला शान्त करो।

शिप्रा— आचार्य ! यह समस्या सर्व प्रथम होनी चाहिए। अग्नि की लपटें मैं शान्त नहीं कर सकती। सारा वन-प्रान्त उनसे झुलस रहा है !

आचार्य— क्या कल रात की लगी हुई आग अभी तक नहीं बुझी ?

शिप्रा— मैं यह तो नहीं कह सकती कि वह आग कल रात की लगायी हुई है; किन्तु लपटें आकाश तक उठ रही हैं !

आचार्य— इस समय हमारे अतिथि विराजमान हैं। हमें इनका सत्कार करना है।

शिप्रा— मैं अतिथि को प्रणाम करती हूँ और उनसे भी प्रार्थना करती हूँ कि वे एक अबला की रक्षा करें !

हर्ष— किन्तु तुम अबला नहीं हो, देवी ! तुम दस्यु पर प्रहार कर अपनी रक्षा कर सकती हो।

शिप्रा— मैं अपनी बात नहीं कर रही हूँ, देव ! एक बाला है जो किसी समय सौभाग्यवती रही होगी। न जाने किस दुःख से अभिभूत होकर वह अग्नि में प्रवेश कर रही हैं

हर्ष— (**विह्वल होकर**) वह राज्यश्री है ! कहाँ है देवी ? वह कहाँ है, शीघ्र चलो ! आचार्य ! उसे बचाने की कृपा कीजिए !

दिवाकर— भगवान तथागत की यही आज्ञा है। (**शिप्रा से**) भद्रे ! मार्ग बतलाओ। हम अभी चलेंगे। (**सुबन्धु और तारक से**) सुबन्धु !

सुबन्धु— तुम भी चलो। तारक! तुम अन्य शिष्यों को लेकर शीघ्र ही आओ। विलम्ब न हो।

[**हलचल होती है**]

शिप्रा— मैं उस अभागिनी बाला की सखियों से कह आयी हूँ कि जब तक मैं आचार्य के आश्रम से न लौटूं तब तक किसी न किसी बहाने तुम उस बाला को चिता पर न चढ़ने देना।

हर्ष— (**शिप्रा से**) तुम कुशल हो, देवी! फिर भी शीघ्र चलो, देवी! कहीं राज्यश्री अपने को अग्नि में समर्पित न कर दे! मेरा हृदय कहता है कि वह राज्यश्री ही है! राज्यश्री ही है! भगवान् आदित्य मुझे किरणों की गति प्रदान करें! मैं वायु के वेग से जाऊँ!

माधव— मैं वाहन का शीघ्र ही प्रबंध करता हूँ। (**प्रस्थान**)

शिप्रा— तब शीघ्र ही चलिए, देव! मैं अश्व भी दौड़ाना जानती हूँ। यदि अश्व हो तो....

हर्ष— अश्व दौड़ाना जानती हो? अश्व तो अनेक हैं। तुम धन्य हो, चलो, देवी! (**आचार्य से**) आचार्य! मैं आगे चल रहा हूँ।

(**प्रस्थान**)

दृश्यान्तर

[**वनप्रान्त—वृक्षाटवी के समीप चिता जल रही है। चिता के समीप एक स्त्री मंगल-पाठ कर रही है।**]

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।
शान्तिः! शान्तिः! शान्तिः!

आरती करती हुई नारियों के कंठ से बीच-बीच में सिसकियां निकल आती हैं। राज्यश्री अनिमेष दृष्टि से चिता की ओर देखती हुई बैठी है। मंगल-पाठ की समाप्ति के बाद वह अपने आप गहरी सांस लेकर कहती है।

राज्यश्री— मंगल-पाठ समाप्त हुआ। कितनी दिव्य ज्योति है चिता की इस मंगलमय अवसर पर! अग्नि का पूजन हो, मेनका!

मेनका— स्वामिनी! अग्नि का पूजन तो सदैव हुआ है, किन्तु इस समय का पूजन कितना कठिन है! स्वामिनी!

राज्यश्री— अग्नि का पूजन सदैव ही मंगलमय है, मेनका! विवाह के मंगल-पर्व पर मैंने वधू-वेश में भी तो इसी अग्नि का पूजन किया था। क्या जानती थी कि इस भाँति भी पूजन करना होगा! **(सिसकी)**।

मेनका— स्वामिनी! यह स्मृति बड़ी कष्टकर है।

राज्यश्री— **(सिसकी रोककर)** मेरी स्मृति ने बधू-वेश ही धारण किया है, मेनका! जिसमें अक्षय शृंगार है। उतना ही जितना इस चिता में है। तू भी चिता का यह दिव्य शृंगार देख! कितना मोहक सिन्दूर लगा रखा है इसने अपनी लपटों में! इन्हीं सिन्दूरी लपटों में मेरे सुहाग की रेखा भी तो छिप गयी है! **(भावमय होकर)** देवि! लौटा दो! लौटा दो, देवि! मेरे सुहाग की रेखा। तुम्हारे पास तो सुहाग का भंडार है जो कभी नहीं घटता। सदैव सरिता के जल की भाँति भरता ही रहता है। अरे! तुम तो और भी प्रज्वलित हो उठीं! नहीं लौटाओगी मेरा सिंदूर? जाने दो, मैं स्वयं तुममें प्रवेश करके अपना सिन्दूर खोज लूंगी या स्वयं सिन्दूर बनकर तुम्हीं में समा जाऊँगी!

[आगे बढ़ती है।]

मेनका— स्वामिनी! आगे न बढ़ें।

राज्यश्री— मेनका! मत रोक मुझे! इसी प्रकार मेरी जननी यशोमति भी तो आगे बढ़ी थीं। अश्रु से स्नान कर, पति की चरण-रज का तिलक लगाकर उन्होंने भी तो अग्नि का कौशेय धारण किया था! उस समय मैं उनके दर्शन नहीं कर सकी! अब

मैं उन्हें अग्नि की लपटों में पाकर पूछूंगी, माँ ! तुम राज्यश्री को उसी समय अपने साथ क्यों न ले आयीं ! (**सिसकी**)

विराजिका—विलाप न करें, महादेवी।

राज्यश्री— विलाप नहीं करती, विराजिका ! मृत्यु के पथ पर आँसू बहा कर उसका मार्ग कोमल बना रही हूँ। मृत्यु मेरी सहचरी बने। मैं भी तो उसी की तरह छाया मात्र रह गयी हूँ। मैं भी तो अतीत की स्मृतियों की समाधि हूँ !

विराजिका—महादेवी ! आपको खोकर महाराज हर्षवर्द्धन भी जीवित नहीं रहेंगे।

राज्यश्री— (**स्मृति से बिलखकर**) मेरे हर्ष ! कहाँ हो तुम ! देखो तुम्हारी छोटी बहिन राज्यश्री कितनी लांछित हुई है ! जिसे तुमने गोद में खिलाया, वही कारागार की बन्दिनी बनी। लौह-शृंखलाओं से उसके पैर कसे गये। हर्ष ! मुझे देखकर तुम लज्जित होगे। मैं अपना कलंकित मुख तुम्हें नहीं दिखलाऊँगी, नहीं दिखलाऊँगी ! (**सिसकियां**)।

विराजिका—महादेवी ! इसमें आपका क्या दोष ? संसार की विषम परिस्थितियाँ सभी को लांछित करती हैं।

राज्यश्री— लांछित होने की अपेक्षा मृत्यु अच्छी है, विराजिका ! दुर्भाग्य ने मृत्यु के मंच तक अनेक सोपान बनाये, किन्तु मेरे लिए मृत्यु एक पग भी नीचे नहीं उतरी ! एक पग भी नहीं ! जैसे नीच शत्रु की भाँति वह भी मुझे अपमानित कर रही है। जीवन के कारागार में डालकर वह दूर से ही मेरा परिहास कर रही है। मैं इसे सहन नहीं करूँगी, नहीं करूँगी। (**सिसकियां**)।

विराजिका—महादेवी ! ....

राज्यश्री— मेरे भस्म हो जाने के बाद यदि मेरे हर्ष मिलें तो उन्हें यह कंठहार दे देना और कहना कि तुम्हारे दिए हुए उपहार के

योग्य राज्यश्री नहीं हो सकी। वह अपने दुर्भाग्य के साथ इस कंठहार को नहीं जला सकी। प्यारे हर्ष का उपहार! **(सिसकियाँ लेती है)** उसे सँभालकर रखना, विराजिका! अब यह चिता की लपटें जननी यशोमति की गोद बनना चाहती हैं, मेनका! चिता पर चढ़ने के लिए अपने हाथ का सहारा दे!

[इसी समय अश्व के समीप आने का शब्द]

शिप्रा— यही वह स्थान है देव!

हर्ष— **(पुकारकर)** राज्यश्री!

मेनका— स्वामिनी! महाराज हर्ष आ गये। महाराज हर्ष आ गये।

राज्यश्री— (उद्भ्रान्त होकर) हर्ष! हर्ष!! **(मूर्छित हो जाती है)**

[महाराज हर्ष शीघ्रता से दौड़कर आते हैं।]

हर्ष— कहाँ है, कहाँ है मेरी राज्यश्री? राज्यश्री! राज्यश्री!! यह है! मेरी बहिन राज्यश्री!!

[हाथों में उठाकर हृदय से लगा लेते हैं।]

हर्ष— **(भरे हुए कंठ से)** राज्यश्री! तू कहाँ रही! नेत्रों की अश्रु-धारा से मेरे हृदय को शीतल कर दे!

विराजिका—**(गद्गद् कंठ से)** महाराज की कंठ-ध्वनि सुनकर महादेवी अचेत हो गयीं। महाराज की सेवा में प्रणाम! महाराज ठीक समय पर आये। यह आपका कंठहार।

मेनका— महाराज की सेवा में प्रणाम! महाराज, यदि इसी समय न आते, तो स्वामिनी चिता में प्रवेश कर जातीं।

शिप्रा— **(विनोद से)** और तुम लोग महाराज का जयघोष करना भूल गयीं?

(छः नारियों का सम्मिलित कंठ) महाराज हर्षवर्द्धन की जय।

[दिवाकर मित्र का शिष्यों सहित प्रवेश]

शिप्रा— आचार्य भी आ गये।

दिवाकर— मैं प्रसन्न हूँ। आपका अनुमान सत्य था, राजन्! राज्यश्री की रक्षा हुई। उसका और आपका कल्याण हो।

हर्ष— आचार्य! प्रणाम करता हूँ। यह आपके दर्शनों का फल है कि आज मेरी बहिन जीवित है। **(राज्यश्री को चेत होता है)**

राज्यश्री— **(चौंककर)** मेरे भाई हर्ष! मैं अनाथ हुई, पिता गये, माता गयीं, भाई गए। तुमने मुझे उस मार्ग से क्यों लौटा लिया? मुझे जाने दो! मुझे जाने दो!! मुझे जाने दो!! मैं जाऊँगी! **(सिसकियाँ)**

हर्ष— बहिन! अब वर्द्धन-वंश में कौन रह गया! तुम जाओगी तो हर्ष के लिए इस संसार में क्या अवलम्ब रहेगा? मुझे जीवित रहने दो बहिन! जीवित रहने दो। इसलिए कि मैं उस नराधम के वंश को धूल में मिला सकूं, जिसने तुम्हें इस स्थिति में पहुँचाया है। मुझे जीवित रहने दो, इसलिए कि मैं तुम्हारे अश्रु-विंदुओं का मूल्य शत्रु के रक्तविंदुओं से चुका सकूं, बहिन! हमारे भाई राज्यवर्द्धन की हत्या जिस शशांक ने की है, उसके वंश को मैं परशुराम की भाँति इक्कीस बार काटना चाहता हूँ। देवि! जीवित रहो और मुझे जीवित रहने दो!

राज्यश्री— यह कुछ न करो भाई! जीवन में तुम पुरुषार्थ करो, किन्तु जिस बहिन के जीवन में अब कुछ भी शेष नहीं है, उस बहिन को संसार में मत खींचो। जो फूल बिखर गया है, उसकी पंखुड़ियों को तुम फिर से न जोड़ो। जो सरिता सूख गयी है, उसमें तुम अंजुलियों से जल मत भरो। चिता मेरी प्रतीक्षा कर रही है, उसे शान्त न होने दो!

हर्ष— बहिन! मैंने अपनी माँ को ज्वाला में जलते देखा है, पिता को मृत्यु की कालिमा में छिपते देखा है। अब साहस नहीं है कि अपनी छोटी बहिन को जलते हुए देखूं! मेरी बहिन! मेरे हृदय में अनेक चिताएँ जल रही हैं, उनमें छोटी बहिन

की चिता प्रलय उत्पन्न कर देगी। उस प्रलय में नष्ट होने से मुझे बचाओ, बहिन !

राज्यश्री— भाई हर्ष! मैं कहाँ जाऊँ? पतिहीन नारी को संसार में कौन सी गति है, मैं प्रार्थना करती हूँ कि मुझे अपने पथ से विचलित न करो। मुझे धर्म-संकट में न डालो।

हर्ष— आचार्य! आप धर्म के प्राण हैं। मेरी बहिन को मार्ग दिखलाइए!

दिवाकर— पुत्रि! पति की स्मृति, पतिप्रेम से अधिक पवित्र है, पति का विरह पति के मिलन से अधिक शक्तिशाली है। तुम पति की स्मृति से जीवन को पवित्र बनाओ।

राज्यश्री— मैं प्रणाम करती हूँ, भन्ते! मैं आपसे भी चितारोहण की अनुमति चाहती हूँ।

दिवाकर— पुत्रि! अपने संकल्प का परित्याग करो, क्योंकि तुम्हारे संकल्प से दो जीवन नष्ट होंगे, तुम्हारा और तुम्हारे एकमात्र भाई हर्षवर्द्धन का। अतः दूसरे के कल्याण के लिए विचरण करो! आत्मसंतोष का उतना महत्व नहीं, जितना दूसरे की प्राण-रक्षा का। अतः अपने शोक का परित्याग करो!

राज्यश्री— शोक का परित्याग करूँ? तब मुझे काषाय-ग्रहण की आज्ञा प्रदान कीजिए।

हर्ष— (हर्षोल्लास से) साधु आचार्य के चरणों में प्रणाम! बहिन तुम धन्य हो! काषाय-ग्रहण मैं भी करूँगा। किन्तु मेरी एक प्रार्थना है। मैंने शत्रुओं का नाश करने की प्रतिज्ञा की है। वर्द्धन-वंश के प्रताप को आर्यावर्त में प्रतिष्ठित करने की शपथ ली है। जब तक मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी न हो, तब तक मेरी बहिन मेरे समीप रहे। जब हर्षवर्द्धन अपना कार्य समाप्त कर ले, तब अपनी बहिन के साथ वह भी काषाय ग्रहण करे।

राज्यश्री— आचार्य की क्या आज्ञा है?

दिवाकर— पुत्रि ! यद्यपि तुम्हारा दुःख बहुत दूर तक पहुँच गया है फिर भी इस समय पिता और गुरू के समान बड़े भाई की आज्ञा मान्य है। पुनीत रहकर अपना कर्त्तव्य पालन करना ही जीवन-यज्ञ है। इस जीवन-यज्ञ में संसार का कल्याण है।

हर्षवर्द्धन— आचार्य ! आपसे मेरा एक निवेदन है। जब तक मेरी बहिन मेरे समीप रहे, आप धार्मिक कथाओं और विमल उपदेशों से इसे प्रतिबोध कराते रहें। आज से आप मेरे राज्य के आचार्य हुए !

दिवाकर— सत्य की विजय हो !

हर्षवर्द्धन— और शिप्रा ! तूने मुझ पर अत्यन्त उपकार किया है। तू मेरी बहिन राज्यश्री की अंगरक्षिका नियुक्त हुई।

शिप्रा— मैं कृतार्थ हुई, महाराज ! यह मेरा भी जीवन-यज्ञ होगा !

हर्षवर्द्धन— मैं सबसे यथास्थान लौटने की प्रार्थना करता हूँ और यह प्रण करता हूँ कि स्थाण्वीश्वर का वर्द्धन-वंश आर्य-गौरव को स्थिर करने में भी जीवन-यज्ञ की पूर्ति समझेगा। जय आदित्य !

(सम्मिलित स्वर से) महाराज हर्षवर्द्धन और आर्या राज्यश्री की जय।

कलाकार का सत्य

नाटक के पात्र

अखिल— एक महाकवि। इसने काव्य-साधना में अपने जीवन के अनेक वर्ष बिना किसी यश-लिप्सा के व्यतीत कर दिए हैं। अब, जब इसके पास कविता की अनेक पांडुलिपियाँ तैयार हो गई हैं, तब वह अपनी ख्याति को सार्वजनिक रूप से देखने का अभिलाषी है, किंतु अभी तक ऐसी परिस्थिति नहीं आ सकी। इस परिस्थिति के अभाव में वह मर्माहत-सा है।

एकांत— अखिल का सहयोगी कवि है। वह अखिल के साथ ही रहता है। उसने काव्य-क्षेत्र में अभी प्रवेश ही किया है। वह सुलझा हुआ और समझदार है।

तुलसी— रामचरित मानस के रचयिता, हिंदी के महाकवि।

समय— रात के तीन बजे।

काल— आधुनिक समय का कोई भी दिन।

[एक गांव में कल्लोलिनी के तट पर अखिल की छोटी-सी कुटी। चारों ओर लताओं और फूलों के पौदे। उत्तर की ओर एक खिड़की जिससे उदय होता हुआ चंद्र-बिंब दीख रहा है। कुछ दूर पर कल्लोलिनी, अपने प्रवाह में सुख-दुख-मयी रातें और बातें बहाती चली जा रही है। अखिल का उस छोटी-सी कुटी में एक कमरा है जो साफ़ और सुथरा होने के कारण अखिल की सुरुचि का प्रतिबिंब है। उस कमरे में तुलसीदास, सूरदास, कबीर, केशव और भूषण के चित्र लगे हुए हैं। एक ओर एक पुरानी अल्मारी है, जिसमें कुछ पुस्तकें सजी हुई हैं। दूसरे कोने में एक चारपाई है, जिस पर आधी रात गए अखिल कविता-लिखते-लिखते सो जाता है।

कमरे के बीचोबीच एक चटाई बिछी हुई है जिस पर एकांत (आयु २४ वर्ष) बैठा हुआ है। उसके सामने एक पुस्तक खुली हुई है। वह धोती और साधारण कुरता पहने हुए है। कमरे में अखिल (आयु ३० वर्ष) टहल रहा है। वह अशान्त है, इसलिए उसकी वेश-भूषा अस्तव्यस्त है। बाल बिखरे हुए। वह भी साधारण कुरता और धोती पहने

हुए हैं। वह टहलते-टहलते बीच में रुक जाता है, जैसे किसी सधे हुए कंठ के स्वरालाप में खांसी आ जाय। वह रुककर खिड़की से दीखने वाले चंद्र-बिंब की ओर उद्विग्न होकर देखता है। उसी समय एकांत पुस्तक से दृष्टि उठा कर अखिल की ओर देखता है।]

एकांत यह 'पुण्य-प्रदीप' सचमुच तुम्हारा अमर-काव्य है, अखिल! (**अखिल की ओर देखता है।**) कल इसकी समालोचना करूँगा। अब सो जाओ महाकवि, बहुत रात बीच चुकी।

(**अखिल मौन रह कर टहलता ही रहता है।**)

एकांत – तुमने सुना नहीं, महाकवि?

अखिल – (**रुककर**) यह सब किससे कह रहे हो, एकांत?

एकांत— तुम से और किससे? रात के तीन बजे और यहाँ है ही कौन?

अखिल — (**चित्रों की ओर संकेत करते हुए**) ये तुलसी, ये सूर, ये कबीर।

एकांत – इनसे मेरा अभिप्राय नहीं है। महाकवि से मेरा अभिप्राय तुम से है।

अखिल – मैं महाकवि? असंभव! असंभव! एकांत, महाकवि क्या इतना तिरस्कृत हो सकता है, जितना मैं हुआ हूँ? तुम शिशिर को वसंत नहीं कह सकते, फूल को लहर नहीं कह सकते, काँटे को फूल नहीं कह सकते! तुम मुझे महाकवि कहकर 'महाकवि' शब्द का अपमान कर रहे हो!

एकांत — शब्द कभी अपमानित नहीं होते, अखिल! हम अपनी भावनाओं को ही जोड़ कर उन्हें सम्मानित या अपमानित होता हुआ समझते हैं। तुम महाकवि हो। संसार आज नहीं तो कल तुम्हें महाकवि अवश्य घोषित करेगा। रत्न रत्न ही रहता है; चाहे वह राजा के मुकुट में हो, चाहे पृथ्वी के अंधकार में।

अखिल -- किंतु पृथ्वी के अंधकार में उसका क्या मूल्य है? अंधकार अपनी शून्यता में इतना काला है कि वह रत्न को कोयले से आगे नहीं बढ़ने देगा। श्मशान भूमि में राजा और रंक की तरह वह रत्न और कोयले को बराबर ही समझता है।

एकांत - किंतु रत्न को संतोष हो जाना चाहिए कि वह रत्न है।

अखिल - उस संतोष से लाभ? वन में खिलनेवाले फूल को अपनी सुन्दरता का अभिमान क्यों हो, जब तक कि वह किसी के केश-कलाप में सज कर या देवता के चरणों में समर्पित होकर दो क्षणों के लंबे युग में अपने को अमर न कर ले? एकांत में खिलने वाले पुष्प से तो वे काँटे अच्छे हैं जो कोई स्वप्न नहीं देखते। अपनी वास्तविकता में सारे जीवन भर तीखी नोंक में अपनी चुभन लिए हुए जैसे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं।

एकांत - किंतु अखिल, काँटे इसलिए नहीं बढ़ते कि वे किसी के पैर में चुभकर दो आँसुओं से अपना कर वसूल करें और फूल इसलिए नहीं फूलते कि वे किसी के हार में गुंथकर किसी की आँखों को मौन निमंत्रण दें। फूल और काँटे अपने जीवन की पूर्णता में संतुष्ट हैं। वे संसार को अपनी दिशा में पुकारते नहीं हैं।

अखिल -- क्या तुमने फूलों की पुकार नहीं सुनी? यह पुकार हमारी तुम्हारी पुकार नहीं है। यह पुकार आत्मा की है, अनुराग की है, अभिलाषा की है। इस पुकार में शब्द नहीं है। इस पुकार में निमंत्रण की विद्युत है. जो बिना बादल के चमकती है। एक होकर सब दिशाओं में फैलती है और मार्ग में जो मिलता है, उसकी आत्मा में बैठकर उसे अपनी जन्मभूमि तक ले आती है।

एकांत — अच्छा अखिल, अब तुम सो जाओ। बहुत रात हो गई। यह विवाद कल पर छोड़ो।

अखिल— तुम सोओ, एकांत! मुझे नींद नहीं आ रही है। मैं इसी तरह जागते हुए अपने जीवन पर आज सोचूंगा। मुझे एकाकी ही रहने दो। अपने नाम की सार्थकता मुझे दो।

एकांत— (**किंचित मुस्कुराकर**) वह तो तुम्हारे पास है ही। तुम्हारी सेवा में तो मेरा आत्म-समर्पण है ही, तुम्हीं मेरे पथ-प्रदर्शक हो, किंतु इस समय मेरी प्रार्थना मानो। तुम सो जाओ, नहीं तो तुम्हारा स्वास्थ्य खराब हो जायगा, अखिल! इस तरह रात-रात भर जागोगे तो तुम अपनी साहित्य-साधना भी न कर सकोगे।

अखिल— अब मुझे साहित्य-साधना करनी भी नहीं है। जिसकी साहित्य-सेवा का संसार के सामने कुछ भी मूल्य न हो, उसकी चेष्टा उस चींटी की तरह है जो अपने जीवन में पृथ्वी की परिधि नापना चाहती है। मैं अपने सारे ग्रंथ जलाऊँगा। कागज में लिपटे हुए मेरे ज्ञान के शव! जैसे मेरी कुटी इनके लिए श्मशान भूमि है। इन्हें जलाऊँगा और कहूँगा कि ये सारे ग्रंथ अपने ही परिताप की आग में जल गए! (**अलमारी के समीप जाकर पुस्तकें निकालते हुए**) यह कविता, यह नाटक, यह उपन्यास! छद्मवेशी साहित्य! जो बहुरूपिया बनकर मनुष्य को धोखा देना चाहता है, उसकी हत्या . . .

एकांत— (**उठकर और अखिल का हाथ पकड़कर**) यह क्या कर रहे हो, अखिल? पागल तो नहीं हो गए?

अखिल— (**उद्वेग से**) हाँ, पागल ही हो गया हूँ! मैं इन्हें जलाऊँगा और जब ये सारे ग्रंथ जलेंगे, तो इनकी आग से दुनियाँ को और भी उजेला मिलेगा, इनके ज्ञान से न सही। भूत को वर्तमान बनाने वाले वे भूत मुझे नहीं चाहिए। काली स्याही में रँगा हुआ यह मस्तिष्क मुझे काफी भ्रष्ट कर चुका। कागज की पुड़ियों में ज्ञान बाँधकर मैं प्रदर्शनी सजाना

चाहता था ! नष्ट करो इसे एकांत ! आज तक मैं भूल में था।

एकांत — (**अखिल का हाथ पकड़कर उसे झकझोरते हुए**) अखिल, अखिल ! यह तुम क्या कह रहे हो ? दिन भर सोचते-सोचते तुम्हारा मन बहुत क्षुब्ध हो गया है। तुम अपने आपे में नहीं हो ! जरा धैर्य से काम लो ! शांति से विचार करो ! आओ, विश्राम करो ! (**एकांत अखिल को चारपाई के पास ले जाता है।**) देखो, तुमने काव्य के क्षेत्र में इतना परिश्रम किया, इतनी साधना की और उसका पुरस्कार तुम्हें नहीं मिला तो कोई हानि नहीं ! तुम अब भी महान् हो। तुम्हारी साधना का मूल्य अब भी वही है, जो होना चाहिए। हज़ारों फूल खिलते हैं। सभी सुगंधि में एक दूसरे से बढ़कर हैं। लेकिन सभी फूल तो फल में परिणत नहीं होते। और यदि कोई फूल फल में परिणत नहीं होता तो उसकी सुगंधि में तो संदेह नहीं किया जा सकता ! इसी प्रकार यदि संसार ने तुम्हारा मूल्य न समझा हो, तो तुम्हारी प्रतिभा में कैसे संदेह किया जा सकता है ? जरा तुम शांत होओ। विश्राम करो। तुम्हारा मन स्थिर हो जायगा।

अखिल — नहीं एकांत, मुझे नींद नहीं आएगी ! (**उठने की चेष्टा करता है, किंतु एकांत उसे रोक लेता है।**)

एकांत — तुम रात-रात भर जागते हो। न जाने क्या सोचते रहते हो ? कभी ठीक तरह से खाना भी नहीं खाते। तुम्हारा स्वास्थ्य कैसे अच्छा रहेगा ? तुम जरा यों हीं बिस्तर पर लेट रहो। नींद थोड़ी देर में आ जायगी। तुम सोने की चेष्टा तो करो !

अखिल — एकांत, मैं यहाँ रहूँगा भी नहीं। यह स्थान छोड़ दूंगा और चला जाऊँगा, जहां मुझे शांति मिल सके। मैं इस स्थान पर रहते-रहते अब ऊब भी गया हूँ।

एकांत— अच्छा ! अच्छा ! चले जाना; पर इस समय तो विश्राम करो ! अखिल मैं जानता हूँ कि साधना कठिन होती है और उसकी सफलता जब दूर होती है, तो मन इसी तरह अशांत हो जाता है, किंतु साहस और धैर्य का भी तो महत्व है !

अखिल – साहस और धैर्य ! पिछले दस वर्षों से मैंने काव्य की उपासना की। 'पुण्य-प्रदीप' के लिखने में जीवन के बहुमूल्य सात वर्ष समाप्त किए, किन्तु किसी ने मेरी कविता को सुनने की आज-तक अभिलाषा प्रकट नहीं की ! किसी को उसमें सरसता नहीं जान पड़ी, जिसके मूल्य में वे मुझे अपनी थोड़ी-सी सहानुभूति ही दे सकते ! किसी ने उसका कोई गीत नहीं गाया ! क्या तुम अनुमान कर सकते हो कि मुझे कितना आंतरिक क्लेश हुआ है। मेरी सारी तपस्या आज निष्फल बनकर रह गई ! मैं ऐसे पथिक के समान हूँ, जिसके भाग्य में चलना ही चलना है, गन्तव्य स्थान पर पहुँचना नही।

एकांत – किंतु निराश होने की कोई बात नहीं है, अखिल ! सफलता कभी परिश्रम से दूर नहीं रहती !

अखिल— दूर नहीं रहती ! पृथ्वी रात भर तपस्या करती है, तो उसे उषा और प्रभात का वरदान मिलता है, किंतु मेरी तपस्या में रात का अंधकार ही अंधकार है, एकांत ! मेरे लिए परिश्रम और सफलता दो विरुद्ध दिशाओं की तरह सदैव दूर ही दूर रहेंगी।

एकांत— तो अखिल मैं इसे असत्य करूँगा। कल ही मैं 'पुण्य-प्रदीप' के प्रकाशन के विषय में शहर जाकर किसी प्रकाशक से मिलूंगा।

अखिल— **(तीव्रता से)** मेरा फिर अपमान कराना है, एकांत ! पिछली बार जानते हो रंजन ने क्या कहा था ? 'तुम्हारी कविता प्रकाशित कर मैं अपने कार्यालय का महत्व नहीं घटाना

चाहता।' मेरी पुस्तक से उनके कार्यालय का महत्व घटता है! क्या इस अपमान को तुम दुहराना चाहते हो?

एकांत— नहीं, अखिल! प्रकाशकों की अहमन्यता से कवि का महत्व कम नहीं होता। थोड़ी-सी पुस्तकें छाप लेने से प्रकाशक अपने को दूसरा ईश्वर समझ लेते हैं और समझते हैं कि इनकी महायता के बिना अच्छे ग्रंथ छापे ही नहीं जा सकते। साहित्य इनसे पूछ ले तब वह पुस्तकों में प्रवेश करे! कली इनकी नजर देखे तब खिले! ये प्रकाशक हैं या काँटों के झुरमुट, जो उगते हुए पौदों को बढ़ने से रोक देते हैं। किन्तु मुझे इन लोगों को रास्ते पर लाना होगा। इन्हें काटने-छाँटने की आवश्यकता होगी। मैं एक सामूहिक और सार्वजनिक आन्दोलन संगठित करूँगा। प्रसिद्ध-प्राप्त लेखकों और कवियों की सहानुभूति प्राप्तकर अलग प्रकाशन-मंदिर स्थापित करूँगा। तब ये प्रकाशक प्रकाश के शत्रुओं की भाँति देखते ही रह जायंगे। तब देखूंगा कि तुम्हारे ग्रंथ प्रकाशित होने से कैसे रह जाते हैं? मैं इन प्रकाशकों की जड़ ही काट दूंगा। ये जंगल के झाड़ और झंखाड़ की तरह मनमाने नहीं बढ़ सकेंगे।

अखिल— मैं भी यही चाहता हूँ कि मेरे ग्रंथ के पीछे प्रकाशकों की कृपा का इतिहास न हो। (**अल्मारी की ओर संकेत करते हुए**) ये सारे ग्रंथ रक्खे हैं! इनके प्रकाशन का परदा फाड़कर झाँको। देखोगे, कि लेखक या कवि, प्रकाशक महोदय के उपग्रह बने हुए घूम रहे हैं, और प्रकाशक सूर्य की तरह उठ कर कह रहे हैं—"अच्छा, अब मैं तुम्हारी कविता प्रकाशित करूँगा! यद्यपि तुम्हारी कविता की प्रतियाँ बिकेंगी नहीं, लेकिन मैं इन्हें बेचने की कोशिश करूँगा। हाँ, तुम्हें अपनी किताब मुफ़्त में देनी पड़ेगी। यही क्या कम है कि मैं तुम्हारी किताब पर पैसे लगा रहा हूँ। इधर प्रकाशकजी ने उस पुस्तक

पर हजारों रुपए कमाए और कविजी इसी में संतुष्ट हैं कि प्रकाशक महोदय ने उनकी पुस्तक छाप तो ली। इसीलिए में चाहता हूँ कि किसी तरह तुम इन लेखकों और कवियों का कलंक जला दो और अहंवादी प्रकाशकों को उनके कल्पित मनोराज्य से निकाल दो। रुपये और दंभ में गले तक धँसे हुए ये प्रकाशक चाँद और सूरज से भी ऊपर हैं। ये कीचड़ में बिलबिलाते हुए कीड़े हैं, जो गंदे पानी को पीकर कहते हैं कि समुद्र हमारे संकेत से ही घटता-बढ़ता है।

एकांत— किंतु, अखिल! इन प्रकाशकों में भी कुछ प्रकाशक ऐसे अवश्य होंगे, जो केवल साहित्य-सेवा की प्रेरणा से ही प्रकाशन के क्षेत्र में आए हैं।

अखिल— किंतु ऐसे प्रकाशकों की संख्या कितनी है!

एकांत— मैं ऐसे प्रकाशकों की संख्या बढ़ाने में प्रयत्नशील होऊँगा। तुम्हारे ही समान मेरे अनेक कवि मित्र हैं। उनका सहयोग प्राप्त कर मैं इस कलंक को दूर करूँगा; किंतु तुम इसकी चिंता मत करो, अखिल! तुम्हारा यदि कोई प्रकाशक न भी हो, जो तुम्हारी साधना का उचित पुरस्कार देकर तुम्हें सम्मानित करे, तो कोई चिंता की बात नहीं। तुम्हारी रचनाएँ नक्षत्रों की तरह अपने आप प्रकाशित होंगी। महाकवि तुलसीदास ने रामचरित मानस के प्रकाशन के लिये क्या चेष्टा की थी; किंतु उनका 'मानस' संसार के श्रेष्ठ महाकाव्यों में अपना अमर स्थान बना गया। दीपक अपने जलानेवाले से नहीं कहता कि मेरे चारों ओर का अंधकार दूर कर दो, दीपक की ज्योति ही अंधकार दूर करती है।

अखिल— तुम्हारे इस कथन से मुझे संतोष है, एकांत!

एकांत— फिर भी मैं तुम्हारे ग्रंथ के प्रकाशन की व्यवस्था कराने कल शहर अवश्य जाऊँगा। यदि तुम्हारी साधना का प्रकाश इसी

समय से फैलने लगे तो क्या हानि है? तुम्हारा काव्यालोक भविष्य का सौंदर्य तो होगा ही, यदि इसी समय से उसकी किरणें जनता के नेत्रों तक पहुँच जायँ तो इससे मानवता का उपकार ही होगा। मैं चाहता हूँ कि कल ही जाकर मैं एक प्रकाशक या रंजन से ही बातें करूँ।

अखिल— किंतु मैं रंजन की कृपा नहीं चाहता।

एकांत— मैं रंजन को कृपा करने का अवसर ही नहीं दूँगा। 'पुण्य-प्रदीप' के स्थलों को सुनाकर कहूँगा कि समाज को इस महा-काव्य की आवश्यकता है। संसार इस महाकाव्य से कर्मयोग का पाठ सीखेगा। मानवता अपने सुख-दुःख की वास्तविकता के चित्र इस महाकाव्य में देखेगी, और मैं तुम्हारी साधना का वास्तविक पुरस्कार उससे प्राप्त करूँगा। यों तो तुम्हारी साधना का मूल्य किसी भी द्रव्य से आँका नहीं जा सकता, फिर भी तुम्हारी आवश्यकताओं की पूर्ति तो होनी आवश्यक ही है।

अखिल— मैं इस संबंध में कुछ नहीं कह सकता।

एकांत— कल तुम अपने महाकाव्य की पांडुलिपि मुझे दे दो। मैं उसे अपने साथ ही ले जाऊँगा।

अखिल— जैसा तुम उचित समझो, एकांत!

एकांत— मैं यही उचित समझता हूँ। यदि मेरा परिचय तुमसे कुछ पूर्व हो जाता, तो अब तक तो तुम्हारी अनेक कृतियाँ प्रकाश में आ जातीं, किंतु अब भी कोई हानि नहीं।

अखिल— मुझे किसी बात की चिंता नहीं। मैं तो यही समझता हूँ कि मैं अपना उत्तरदायित्व पूर्ण नहीं कर सका और मेरी समाज को आवश्यकता नहीं, संसार को आवश्यकता नहीं, मेरा जीवन व्यर्थ ही है।

एकांत— नहीं, महाकवि! तुम्हारा ऐसा सोचना ठीक नहीं! तुम साहित्य

के महान् कवि हो और संसार और समाज को तुम्हारी आवश्यकता है। और मैं यह भी कह सकता हूँ कि तुम भविष्य के हो और भविष्य तुम्हारा है। अच्छा, अब तुम सो जाओ। यदि मैं तुम्हारी चिंता न करूँ, तो तुम्हें कोई देखनेवाला ही नहीं। ठीक है, महापुरुषों का जीवन इसी प्रकार होता है। इधर कई दिनों से मैं देख रहा हूँ कि तुम्हें नींद भी अच्छी तरह से नहीं आती। सोते-सोते चौंक उठते हो। स्वप्न में न जाने क्या-क्या देखा करते हो! कभी हँसते हो, कभी चीख उठते हो। कभी किसी से बातें करते हो, यह ठीक नहीं। तुम पूर्ण शांति से सोओ। मैं तो पास के कमरे में ही हूँ, जब चाहो, मुझे बुला सकते हो।

अखिल— (**स्वस्थ होकर**) अच्छी बात है, तुम जाओ, एकांत! मैं सोने की कोशिश करूँगा। अपने थोड़े दिनों के जीवन में प्रसन्न रहने की चेष्टा करूँगा। अब मैं भी थक गया हूँ। शायद नींद आ जाय।

एकांत— यही तो मैं भी कहता हूँ, महाकवि! तुम सोने की कोशिश करोगे तो तुम्हें नींद अवश्य आ जायगी।

अखिल— अच्छी बात है। (**दृढ़ मुद्रा**)

एकांत— तो मैं जाऊँ?

अखिल— जाओ।

एकांत— रात के लिए नमस्कार। (**अखिल धीरे से सिर हिलाता है।**)

एकांत— (**जाते-जाते**) शांति से सोना, महाकवि ! (**प्रस्थान**)

[**एकांत के जाने के पश्चात् अखिल थोड़ी देर तक चारपाई पर बैठा रहता है। फिर सोचते सोचते उठ खड़ा होता है और कमरे में टहलने लगता है।**]

अखिल— (**टहलते हुए शांति से**) सोऊँ?.. जिसके जागने में शांति नहीं है, उसके सोने में शांति होगी?.. क्या शांति होगी?

एकांत क्या समझे कि मैं किसलिए चिंतित हूँ! ...... इसलिए नहीं कि मेरी रचनाएँ प्रकाशित नहीं हुईं, इसलिए कि मैं समझ रहा हूँ कि वर्तमान युग में मेरी साधना का कोई मूल्य नहीं और मुझे यह साधना छोड़नी होगी ....। यह घर भी छोड़ना होगा...। यह प्यारा घर! जिसकी प्रत्येक दीवाल से मेरा सहोदर जैसा संबंध है, जिसकी प्रत्येक लता मेरी सहोदरी है। बड़ा न होते हुए भी इसने मुझे बड़ा किया है। इसकी धूल ने मुझे शक्ति प्रदान की है। अब यह एकाकी रह जायगा। (**टहलते हुए खिड़की के पास जाता है।**) कल्लोलिनी! मेरे सुख-दुःख को बहाकर मेरी स्मृति भी बहा ले जाना, जिससे संसार को यह न मालूम हो कि अखिल नाम का कोई व्यक्ति इस संसार में असफल साधना लेकर उत्पन्न हुआ था। यही मेरे जीवन का परिणाम है और यही होना भी चाहिए।... (**फिर टहलता है**) एकांत कहता है कि वह मेरे 'पुण्य-प्रदीप' की पांडुलिपि कल ले जायगा। क्या होगा उससे? किसी ने कृपा-पूर्वक ...... नहीं! नहीं!!... कृपा-पूर्वक किसी को छापने न दूंगा! मेरी साधना में किसी की कृपा के लिए स्थान नहीं है... अब सोने की चेष्टा करूँ...! नींद नहीं आएगी। (**चाँद की ओर दृष्टि डालकर**) चाँद! मेरे समान इसके हृदय में भी शोक की कालिमा है...! लेकिन मेरे चले जाने के बाद मेरे घर पर चाँदनी का अमृत बरसाकर उसे अधिक दिनों तक सुरक्षित रखना...! (**लौटकर चारपाई पर बैठता है। उसकी दृष्टि महात्मा तुलसीदास के चित्र पर पड़ती है। वह तुलसीदास के चित्र के समीप जाता है।**) तुलसीदास! रामचरित मानस के महाकवि तुलसी...! एकांत कहता है—महाकवि तुलसी ने रामचरित मानस के प्रकाशन के लिए क्या चेष्टा की थी! (**रुक कर**) क्या चेष्टा

की होगी ? कुछ नहीं ! (**तुलसीदास के चित्र की ओर ध्यान से देखता है**) ... अच्छा. महाकवि ? ... तुम महाकवि ही होकर रहे ... तुम अमर हो ... ! (**लौटकर चारपाई पर आकर बैठता है। कुछ क्षण बैठने के बाद**) अब सोऊँ ? आलस आ रहा है। (**जँभाई लेता है। उठकर कमरे का प्रकाश मंद करता है और पलंग पर अंगड़ाई लेकर बैठता है। एक क्षण सोचते हुए**) संभव है, इस घर में मेरी यह अंतिम रात हो ! (**हँस कर**) भाग्य का विधान !

[**धीरे-धीरे चादर ओढ़ कर लेट जाता है। एक मिनट तक स्तब्धता रहती है। फिर 'बैक ग्राउंड म्यूज़िक'। कुछ देर बाद अखिल करवट बदलता है। अब वह सो गया है। एकाएक हरा प्रकाश होता है, जो नेपथ्य से आता हुआ ज्ञात होता है। उसी के साथ दूर से आती हुई संगीत की ध्वनि सुनाई दे रही है। धीरे-धीरे वह ध्वनि पास आकर स्पष्ट सुन पड़ती है।**]

कबहुँक हों यहि रहनि रहोंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहोंगो ॥
जथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहोंगो।
पर हित निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहोंगो ॥
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहोंगो।
विगत मान, सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहोंगो ॥
परिहरि देह जनित चिन्ता दुख सुख सम बुद्धि सहोंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहोंगो।
कबहुँक ... हों ... यहि ... रहनि .. रहोंगो ...।

(**कुछ देर शान्ति**)

अखिल-- (**निद्रित स्वर में**) तुलसीदास ...

[**एक वृद्ध व्यक्ति प्रवेश करता है। दुर्बल शरीर, गौर वर्ण,**

बड़े बड़े बाल, माथे में तिलक, हाथ में माला, पैर में खड़ाऊ, स्वच्छ वस्त्र। वह पूर्ण तपस्वी वेश में है। वह अपने विशाल नेत्रों से अखिल को देखता हुआ चारपाई के समीप आ जाता है। अखिल नेत्र बन्द किए हुए इस व्यक्ति को ही स्वप्न में देख रहा है।]

अखिल — **(आंख बंद किए हुए)** तु. . .ल. . .सी. . .!

तुलसी — **(भावना के स्वरों में)**

एक भरोसे एक बल,
एक आस विश्वास—
एक राम घनस्याम हित,
चातक तुलसीदास।

अखिल— **(निद्रित स्वर में)** तु. . ..ल....सी .. .!

तुलसी — **(सान्त्वना के स्वर में)** तुम दुखी हो अखिल? दुखी होने की कोई बात नहीं। मैं भी तो तुम्हारी ही तरह था। मंगन के कुल में जन्म लिया। माता पिता ने छोड़ दिया। जाति के, कुजाति में, सुजाति के टुकड़े खाए। छुटपन से ही द्वार-द्वार पर दीनता कही। स्वार्थ के साथियों ने तिजरा के टोटके के समान मुझे पीछे पलट कर भी नहीं देखा। मैंने भिक्षा माँगी। चार चनों को ही चार पदार्थ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की भाँति मैंने जाना। किंतु मैंने इन सब विपत्तियों का तिरस्कार किया। लोगों ने मुझे पोच कहा, इसका न तो मुझे कभी सोच हुआ और न संकोच ही। मुझे विवाह की चिंता भी नहीं थी। मैं किसी की जाति-पाँति नहीं चाहता था। भागीरथी का—कल्लोलनी का—जलपान और अपने राम का नाम। बस, यही चाहता था। काशी में लोगों ने मुझे शारीरिक दंड भी दिया, किंतु मैंने कुछ नहीं किया। रामचरित मानस की रचना की। पंडितों ने विरोध किया—मैं रामकथा

को भाषा में लिखता हूँ, किंतु मैंने निर्भीकता से अपनी निन्दा सुनी।

"कौन की आस करै तुलसी जो
पै राखि है राम तौ मारि है को रे।"

अखिल — (चारपाई पर उद्विग्न होकर) रक्षा... रक्षा!

तुलसी — (पुनः सांत्वना के स्वर में) अपने पर विश्वास रक्खो, तुम स्वयं अपनी रक्षा कर लोगे। ईश्वर की शक्ति में श्रद्धा रक्खो।

'राखि है राम कृपालु तहाँ हनुमान से पायक है जेहि केरे।
नाक रसातल भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे।'

तुम इतने दुखी होते हो? माता-पिता से हीन दुःखी भिखारी मैं जब निंदित होकर लोगों में पूजित हुआ तो तुम क्यों नहीं हो सकते?

तुमने वे पंक्तियाँ पढ़ी हैं?

केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास।
नाम जपत भये तुलसी तुलसीदास।।

और

घर घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय।
जे तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय।।

उठो, तुम प्रसिद्ध होगे। अपनी साधना में और अपने राम में विश्वास हो। (**अखिल के अधरों में स्पन्दन होता है।**)

तुलसी — मैं जानता हूँ, तुम अपनी कविता के संबंध में कह रहे हो। यदि तुम्हारी कविता प्रकाशित न भी हो तो उसका मूल्य नहीं घटता। रत्न रत्न ही है, चाहे जहाँ हो। हाँ, वह नृप के किरीट और तरुणी के शरीर पर जाकर अधिक शोभा प्राप्त करता है। तुम भी शोभा प्राप्त करोगे। मेरी कविता कहीं प्रकाशित नहीं हुई। रामचरितमानस की मेरे समकालीन लोगों ने निंदा ही की, किंतु राम-भक्ति में लिखे गए मानस

को कोई रोक नहीं सका। सच्चा मनुष्य वह है जो निंदा से निराश नहीं होता। अच्छा, (**चलते हुए**) अब मैं जाता हूँ।

एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास।

एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥ (**प्रस्थान**)

[**नेपथ्य में उनका वही स्वर सुन पड़ता है। 'कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो' उनके जाते ही हरा प्रकाश नेपथ्य में जाता हुआ लीन हो जाता है। धीरे-धीरे उनका गान दूर होता हुआ क्षीण होता जा रहा है, और कुछ देर में वह वायु में लीन हो जाता है।**]

अखिल— (**एकाएक चौंककर उठते हुए**) तुलसीदास! . . .महाकवि तुलसी! . . . तुल. . .सी. . ! ! (**उठकर शीघ्रता से दरवाजे के पास जाता है। फिर लौटते हुए**) यह स्वप्न है या सत्य? तुलसीदास. . . ! (**महात्मा तुलसीदास के चित्र के समीप खड़ा हो जाता है। धीरे-धीरे दुहराता हुआ**) यह स्वप्न. . था. . या सत्य. . . ?

(**एकांत का शीघ्रता से प्रवेश।**)

एकांत— (**अखिल को खड़ा देखकर**) अखिल, तुम नींद में फिर चौंक उठे?

अखिल— (**एकांत से कुछ न बोलकर तुलसी के चित्र को देखते हुए पूर्ववत शिथिल स्वर में**) तु. . ल. . . सी. . . !

एकांत— तु. . .ल . . .सी! बात क्या है?

अखिल— (**शून्य में देखकर**) अभी तुलसीदास आए थे!

एकांत— (**आश्चर्य से**) तुलसीदास?

अखिल— हाँ, हाँ, तुलसीदास! अभी आए थे! और मैंने जीवन का सत्य पा लिया, एकांत! मैंने जीवन का सत्य पा लिया! अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। तुम जाओ, एकांत! अब मुझे कुछ नहीं चाहिए! मुझे खोया हुआ रास्ता मिल गया!

मुझे जीवन का संदेश मिल गया ! तुम जाओ, एकांत ! तुम जाओ !

एकांत— (**अस्थिर होकर**) तुम बहुत अशान्त रहते हो अखिल, न जाने क्या-क्या स्वप्न में देखते हो ? तुम बीमार पड़ जाओगे।

अखिल— कछ नहीं, एकांत ! अभी तुलसीदास आए थे। बिल्कुल सामने। मैंने उनके विशाल नेत्र देखे। उनके बड़े-बड़े बाल थे। माथे में तिलक, हाथ में माला, पैर में खड़ाऊँ, स्वच्छ वस्त्र। पूर्ण तपस्वी का वेश। ओह बिल्कुल साकार ! वे मेरी चारपाई के पास चले आए। उन्होंने मुझसे कहा—'जब मैं निन्दित होकर लोगों मे पूजित हुआ तो तुम क्यों नहीं हो सकते ? तुम अपनी साधना में विश्वास रक्खो।' तुमने भी तो मुझसे यही कहा था, लेकिन मुझे विश्वास नहीं हुआ। एकांत ! एकांत ! आज मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अब मैं कुछ नहीं चाहता ! . . . . . आज मैं कुछ नहीं चाहता !

एकांत— (**अखिल का हाथ पकड़कर**) अखिल! जरा शान्त होओ ! क्या तुलसीदास को तुमने स्वप्न में देखा ?

अखिल— स्वप्न में ? लेकिन उनका आना उतना ही सत्य है, जितना तुम्हारा, एकांत ! अब मुझे रास्ता मिल गया, मुझे रास्ता मिल गया ! तुलसीदास ने बतला दिया, महाकवि ने !

एकांत— कैसा रास्ता ?

अखिल— जिसमें कभी कोई निराशा नहीं, कभी कोई दुःख नहीं, कभी कोई ग्लानि नहीं !

एकांत— कुछ स्पष्ट कहो, अखिल !

अखिल— स्पष्ट कहने की आवश्यकता नहीं ! देखो एकांत, मेरा 'पुण्य प्रदीप' कहाँ है ?

एकांत— वहीं, तुम्हारी अलमारी में। (**अलमारी के पास जाता है।**)

अखिल— उसे मुझे दे दो।

[**अखिल निकालकर देता है**]

अखिल— लाओ, इसे मुझे दे दो। इसे प्रकाशित कराने की आवश्यकता नहीं है। तुम कहीं मत जाओ! किसी से इसे प्रकाशित करने की बात मत कहो। यह मेरे पास ही सुरक्षित रहेगा। अब मैं इसे किसी को नहीं दूंगा।

एकांत— और तुम जाओगे तो नहीं यहाँ से?

अखिल— अब किसके पास जाऊँगा? यहीं मुझे शांति मिलेगी। केवल यहीं शांति मिलेगी, जहाँ महात्मा तुलसीदास ने आकर मुझे शक्ति का मंत्र दिया है! जीवन का अमर मंत्र दिया है! एकांत! इस भूमि की पूजा करो, यह भूमि महात्मा तुलसीदास के पावन-चरणों से पवित्र हुई है! तुम इसे प्रणाम करो, एकांत! महात्मा तुलसी के पवित्र शब्द हैं:—

'एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास'

[**एकांत दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करता है और गिरते हुए परदे में कविता की पूर्ति होती है।**]

'एक राग घनस्याम हित चातक तुलसीदास।'

[**परदा गिर जाता है।**]

प्रसाद की कला

नाटक के पात्र

प्रसाद के नाटकों के स्वर में

राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, ध्रुवस्वामिनी, स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त, एक घूंट।

(क) सज्जन नाटक के पात्र

दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, शकुनी, राक्षस, विदूषक, नर्त्तकियां।

(ख) अजातशत्रु के पात्र

पद्मावती, उदयन, वासवदत्ता, दासी।

(ग) स्कंदगुप्त के पात्र

स्कंदगुप्त, पर्णदत्त, देवसेना, नागरिक।

प्रतिन्यास : स्थान काशी, सन् १८८९। मुंघनी साहु नाम के प्रसिद्ध घराने में एक शिशु उत्पन्न हुआ उसका नाम रक्खा गया, जयशंकर, जो आगे चल कर श्री जयशंकर प्रसाद के नाम से हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार प्रसिद्ध हुआ। पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ही जयशंकर प्रसाद ने लिखना शुरू कर दिया और उनकी रचनाएँ 'भारतेन्दु' और 'इंदु' में जगमगाने लगीं! यह कविता की कली है, यह कहानी का फूल है, यह उपन्यास का फल है; और यह नाटक की क्यारी है। जयशंकर प्रसाद सभी कुछ लिख सकते थे। उनकी प्रतिभा सूरज की एक किरण थी, जिसमें साहित्य के भाँति-भाँति के रंग छिपे हुए थे।

देखिए, प्रसाद जी के नाटक हैं। ये खुद आपके सामने बोल सकते हैं—

एक स्वर— राज्यश्री।

दूसरा स्वर—विशाख।

तीसरा स्वर–अजातशत्रु।

चौथा-स्वर—जनमेजय का नाग-यज्ञ।

पांचवां स्वर–ध्रुवस्वामिनी ।

छठां स्वर— स्कंदगुप्त ।

सातवां स्वर–चन्द्रगुप्त ।

आठवां स्वर–एक घूँट ।

प्रतिन्यास : इनमें तीन नाटक पुराने हैं जो खुद नहीं बोल सके। मैं उनके नाम सनाता हूँ। वे हैं 'सज्जन' 'प्रायश्चित' और 'कामना'। इस तरह कुल ग्यारह नाटक हैं। इन नाटकों में तीन तरह के रंग हैं : तारों का प्रकाश, उषा और सूर्योदय; इन तीनों की झाँकी देखिए।

यह संस्कृत के बाग का पौदा है। इसमें नान्दी पाठ और प्रस्तावना के पत्ते हैं, गद्य और पद्य की कलियाँ और फूल हैं। इन कलियों में ब्रजभाषा की सुगंधि है। विदूषक भौंरे की तरह गुनगुन कर रहा है। इसमें अलंकारों के रंग हैं और रस का मकरंद भरा हुआ है। इसका नाम है 'सज्जन'! बेखिर पट्मंडप में दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, शकुनी आदि बैठे हैं। नाच हो रहा है। गाने वाली गाती है।

अभिनय : सदा जुग जुग जीओ महराज ।
सुखी रहो सब भाँति अनंदित भोगो सब सुख साज ।
नित नव उत्सव होय मगन मन विनवै राज समाज ।

प्रतिन्यास : (**कर्ण कहते हैं**) वाह, क्या अच्छा गाया....और दुर्योधन अँगूठी देकर कहते हैं:—मित्र, कर्ण! पाण्डवों को हमारे आने का पता लगा कि नहीं ?

कर्ण— अवश्य ही उन्हें ज्ञात होगा।

प्रतिन्यास : दुःशासन कहता है कि पांचों इस समय अकेले होंगे! समय तो अच्छा है।

कर्ण— चुप...हाँ, हमारे वैभव को देख कर वे अवश्य ईर्ष्या से

जलते होंगे, और हम लोगों के आने का तात्पर्य भी तो यही है।

दुर्योधन - **(गहरी सांस लेकर)** जब से अर्जुन के अस्त्र-प्राप्ति की बात हमने सुनी है, तब से हमारे मन में बड़ी आशंका है।

कर्ण — कुछ आशंका नहीं है!

जो चंड आप भुजदंड रहे सहारे।
है नित्य नूतन हिए महँ ओज धारे।
उद्योग सो विरत होय कबौं न हेली।
लक्ष्मी सदा रहत तासु बनी सुचेली।

दुर्यो० — क्यों न हो मित्र, कर्ण! तुम ऐसा न कहोगे तो कौन कहेगा?

प्रतिन्यास : और विदूषक अलग कह रहा है—देखो केवल कर्ण से सलाह लेने वाले मनुष्यों की क्या दशा होती है। मनुष्यो! तुम्हें ईश्वर ने आँख भी दिया है, उससे कार्य लिया करो। हमारे राजा दुर्योधन के तो केवल कर्ण ही मित्र है, और होना भी चाहिए, क्योंकि धृतराष्ट्र का पुत्र है।

कर्ण — ओ, क्यों बड़बड़ाता है?

विदूषक — जी धर्मावतार, कुछ नहीं!

कर्ण — झूठ बोलता है और मुंह के सामने!

दुर्यो० — चला जा सामने से।

कर्ण — जा, मुंह मत दिखा।

प्रतिन्यास : विदूषक मुंह बना कर मुह फेर लेता है।

दुर्यो० — **(झिड़क कर)** बाहर जाओ।

विदूषक — जाता हूँ, सरकार।

प्रतिन्यास : विदूषक बाहर जाता है।

कर्ण — इसके सामने मंत्रणा करना ठीक नहीं है।

प्रतिन्यास : (**शकुनी कहता है**) मंत्रणा क्या है! मृगया खेलने चलोगे न? पशु भी तो इसी वन में है!

कर्ण और दुर्यो०—हाँ, हाँ, ठीक है!

प्रतिन्यास : इसी समय विदूषक को पकड़े हुए एक राक्षस आता है। कर्ण क्रोधित होकर पूछता है?

कर्ण— तू कौन है? नहीं जानता कि किसके सामने खड़ा है!

राक्षस— जानता हूँ! बुद्धि का जिसे अजीर्ण है और जिसे केवल कर्ण का सहारा है, उस कौरवाधिपति के सामने!

कर्ण— रे नीच मीच तव वेग नगीचा आई।
जो कौरवाधिप समीप करे ढिठाई।
क्यों ह्वै अभीत इत आवन दुष्ट कीन्हों।
देने चताव मम खड्ग कौन चीन्हों।

दु:शासन— क्यों, तू यहाँ क्यों आया है?

राक्षस – महाराज गंधर्वराज चित्रसेन ने कहा है कि दुर्योधन से कहो कि मृगया के खेलने का विचार यहाँ न करें। उत्सव कर चुके। अब यदि अपना कुशल चाहें तो यहाँ से हस्तिनापुर का प्रस्थान करें।

कर्ण— (**क्रोधित होकर**) जा, अपने स्वामी से कह दे कि हम लोग अवश्य मृगया खेलेंगे।

राक्षस— अच्छा।

प्रतिन्यास : राक्षस सिर हिलाता हुआ जाता है और विदूषक की टाँग पकड़ कर खींचता है। विदूषक कहता है:

विदू० अरे, छोड़! मत दुख दे। मैं तो जिसकी विजय होगी उसी के पक्ष में रहूँगा।

प्रतिन्यास : यह रही पहली झाँकी, संस्कृत नाटक के इसमें प्राण हैं, तो पारसी थियेट्रिकल कंपनी का शरीर है। एक 'कैरेक्टर' गाना

गाता है, दूसरा कविता पढ़ता है और तीसरा जोर से बोलता है। कथा पुरानी है, लेकिन इसमें प्राण नहीं है। यहाँ प्रसाद जी संस्कृत के पुराने और हिन्दी के नए नाटकों के रास्ते पर चल रहे हैं। आइए, अब इसके बाद की दूसरी झाँकी देखें। इसमें पश्चिमी नाट्य कला आ गई है, लेकिन यह कला अधिकतर 'एलिजबेथिन' काल की कला से भरपूर है। इसमें स्वगत कथन और अभिनयात्मकता का विशेष प्रभाव है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण 'अजातशत्रु' है। इसका भी एक चित्र देखिए, मगध की राजकुमारी और उदयन की रानी पद्मावती का कमरा है। पद्मावती वीणा बजाना चाहती है। कई बार प्रयास करने पर भी नहीं सफल होती। वह कहती है:

पद्मा०— जब भीतर की तंत्री बेकल है, तब यह कैसे बजे! मेरे स्वामी! मेरे नाथ! यह कैसा भाव है, प्रभु!

प्रतिन्यास: वह फिर वीणा उठाती है और रख देती है, फिर गाने लगती है।

पद्मा०— मींड़ मत खिचे बीन के तार।
निर्दय उँगली अरी ठहर जा।
पल भर अनुकम्पा से भर जा॥
यह मूर्छित मूर्छना आह सी।
निकलेगी निस्सार। मींड़ मत०—
छेड़ छेड़ कर मूक तन्त्र को।
विचलित कर मधु मौन मन्त्र को॥
दिखरा दे मत शून्य पवन भी।
लय हो स्वर साकार। मींड़ मत०—
मसल उठेगी सकरुण वीणा।
किसी हृदय की होगी पीड़ा॥

नृत्य करेगी नग्न विकलता।

परदे के उस पार। मींड़ मत०—

'यह सौभाग्य ही है कि भगवान् गौतम आ गए हैं, अन्यथा पिता की दुरवस्था सोचते-सोचते तो मेरी बुरी अवस्था हो गई थी, महाश्रमण की अमोघ सान्त्वना मुझे धैर्य देती है। किन्तु मैं यह क्या सुन रही हूँ, स्वामी मुझसे असन्तुष्ट हैं। भला, वह वेदना मुझसे कैसे सही जायगी! कई बार दासी गई किन्तु वहाँ तो तेवर ही ऐसे हैं कि किसी अनुनय विनय का साहस ही नहीं होता। फिर भी कोई चिन्ता नहीं। राजभक्त प्रजा को विद्रोही होने का भय ही क्यों हो?'

हमारा प्रेम निधि सुन्दर सरल है।
अमृतमय है, नहीं इसमें गरल है॥

[**नेपथ्य में भगवान बुद्ध की जय हो**]

पद्मा०— अहा! संघ सहित करुणानिधान जा रहे हैं, दर्शन तो करूँ!

प्रतिन्यास : और पद्मावती भगवान् बुद्ध को खिड़की से देखती है। उसी समय उदयन आते हैं।

उदयन - (**क्रोध से**) पापीयसी, देख ले यह तेरे हृदय का विष! तेरी वासना का निष्कर्ष जा रहा है। इसीलिए न यह नया झरोखा बना है!

प्रतिन्यास : पद्मावती चौंक कर खड़ी हो जाती है और हाथ जोड़ कर कहती है।

पद्मा०— प्रभु, स्वामी, क्षमा हो! यह मूर्ति मेरी वासना का विष नहीं, किन्तु अमृत है। नाथ! जिसके रूप पर आपकी भी असीम भक्ति है, उसी रमणी रत्न मागंधी का भी जिन्होंने तिरस्कार किया था, शान्ति के सहचर, करुणा के स्वामी, उन बुद्ध को मांस पिंडों की भी आवश्यकता नहीं।

उदयन-- किन्तु मेरे प्राणों की है। क्यों? इसीलिए न वीणा में साँप का बच्चा छिपा कर भेजा था! तू मगध की राजकुमारी है, प्रभुत्व का विष जो तेरे रक्त में घुसा, वह कितनी ही हत्याएँ कर सकता है। दुराचारिणी! तेरी चाल का दाँव मुझ पर नहीं चला। अब तेरा अन्त है, सावधान!

प्रतिन्यास : और उदयन तलवार निकाल लेते हैं।

पद्मा० -- मैं कौशम्बी नरेश की राजभक्त प्रजा हूँ। स्वामी! किसी छलना का आपके मन पर अधिकार हो गया है। वह कलंक मेरे सिर पर ही सही। विचार की दृष्टि में यदि अपराधिनी हूँ, तो दण्ड भी मुझे स्वीकार है। और वह दण्ड, वह शान्ति-दायक दण्ड, यदि स्वामी के कर-कमलों से मिले, तो मेरा सौभाग्य है! प्रभु, पाप का दण्ड ग्रहण कर लेने से वही पुण्य हो जाता है!

प्रतिन्यास : पद्मावती सिर झुका कर घुटने टेकती है।

उदयन-- पापीयसी! तेरी वाणी का घुमाव-फिराव मुझे अपनी ओर नहीं आकर्षित करेगा, तुझे इस हलाहल से भरे हुए हृदय को निकालना ही होगा। प्रार्थना कर ले!

पद्मा०-- मेरे नाथ! इस जन्म के सर्वस्व और उस जन्म के स्वर्ग! तुम्हीं मेरी गति हो और तुम्हीं मेरे ध्येय हो, जब तुम्हीं समक्ष हो, प्रार्थना किसकी करूँ, मैं प्रस्तुत हूँ!

उदयन-- अच्छा!

प्रतिन्यास : और उसी समय उदयन तलवार उठाता है, वासवदत्ता प्रवेश करती है।

वासव०-- ठहरिए, मागंधी की दासी नवीना आ रही है, जिसने सब अपराध स्वीकार किया है। आपको मेरे इस राज-मन्दिर की सीमा के भीतर इस तरह हत्या करने का अधिकार नहीं है। मैं इसका विचार करूँगी और प्रमाणित कर दूंगी कि

अपराधी कोई दूसरा है। वाह, इसी बुद्धि पर आप राज्य-शासन कर रहे हैं ? कौन है, बुलाओ मागंधी और नवीना को ?

दासी - महादेवी जी आना चाहती हैं।

उदयन - देवी ! मेरा तो हाथ ही नहीं उठता है ! यह क्या माया है !

वासव० - आर्य-पुत्र ! यह सती का तेज है, सत्य का शासन है, हृदयहीन मद्यप का प्रलाप नहीं। देवी पद्मावती ! तू पति के अपराधों को क्षमा कर।

पद्मा० - (**उठकर**) भगवन् यह क्या ! मेरे स्वामी, मेरा अपराध क्षमा हो। नसें चढ़ गई होंगी।

प्रतिन्यास : पद्मावती उदयन का हाथ सीधा करती है, इसी समय दासी आती है।

दासी - महाराज भागिए, महादेवी हटिए, वह देखिए आग की लपट इधर ही चली आ रही है। नई महारानी के महल में आग लग गई है और उनका पता नहीं है। नवीना मरती हुई कह रही थी कि मागंधी स्वयं मरी और मुझे भी उसने मार डाला ! वह महाराज का सामना नहीं करना चाहती थी।

उदयन - क्या षड्यंत्र ! अरे मैं क्या पागल हो गया था, देवी ! अपराध क्षमा हो।

प्रतिन्यास : उदयन पद्मावती के सामने घुटने टेकते हैं।

पद्मा० - उठिए-उठिए महाराज, दासी को लज्जित न कीजिए।

वासव० - यह प्रणय-लीला दूसरी जगह होगी, चलो हटो, यह देखो लपट फैल रही है।

प्रतिन्यास : वासवदत्ता दोनों का हाथ पकड़ कर खींच कर खड़ी हो जाती है, पर्दा हटता है। मागंधी के महल में आग लगी हुई दिखाई पड़ती है (**कुछ रुक कर**) यह रही दूसरी झाँकी। विचारों

की सत्यता और अभिनय की मनोरमता प्रारम्भ से अन्त तक बराबर चली आती है। इसमें जीवन का संगीत और संघर्ष दोनों ही हैं। 'अजातशत्रु' ने ही जयशंकर प्रसाद को प्रथम श्रेणी का नाटककार घोषित कर दिया। अब उनकी तीसरी और आखिरी झाँकी भी देखिए। उसमें पश्चिम की नाट्य-कला का स्वतन्त्र प्रभाव है। इसमें प्रसाद की मौलिकता अपनी अंतिम सीमा पर पहुँची हुई है। उसमें मनोवैज्ञानिक सरसता का पूर्ण उदय हो गया है, जैसे पूर्णमासी का चाँद हो। स्कंदगुप्त की माँ महादेवी की समाधि के समीप अकेला पर्णदत्त टहलते हुए आता है।

पर्णदत्त-- सूखी रोटियाँ बचा कर रखनी पड़ती है जिन्हें कुत्तों को देते हुए संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय अक्षय निधि के समान! उन पर पहरा देता हूँ, मैं रोऊँगा नही, परन्तु यह रक्षा क्या केवल जीवन का बोझ वहन करने के लिए है? नहीं पर्ण, रोना मत। एक बूंद भी आँसू आँखों में न दिखाई पड़े, तुम जीते रहो। तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा। भगवान यदि होंगे तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था। सन्तोष कर! उछलते हुए हृदय, संतोष कर! तू रोटियों के लिए नहीं होता है, तू उसकी भूल दिखाता है, जिसने तुझको उत्पन्न किया है, परन्तु जिस काम को कभी नहीं किया, उसे करते नहीं बनता, स्वांग भरते नहीं बनता, देश के बहुत से दुर्दशा-ग्रस्त वीर हृदयों की सेवा के लिए करना पड़ेगा। मैं क्षत्रिय हूँ। मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा, साक्षी रहना, भगवान्!

प्रतिन्यास: एक नागरिक प्रवेश करता है।

पर्ण— बाबा, कुछ दे दो।

नागरिक— और वह तुम्हारी कहाँ गई वह....

प्रतिन्यास : नागरिक इशारा कर रहा है।

पर्ण - मेरी बेटी, स्नान करने गई है, बाबा ! कुछ दे दो।

नागरिक— मुझे उसका गान बड़ा प्यारा लगता है, अगर वह गाती, तो तुम्हें अवश्य कुछ मिल जाता। अच्छा, फिर आऊँगा।

प्रतिन्यास : नागरिक चला जाता है।

पर्ण — (**दांत पीसकर**) नीच दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा ! बालों को सँवार कर अच्छे कपड़े पहन कर अब भी घमंड से तना हुआ निकलता है। कुलबधुओं का अपमान सामने करते हुए भी अकड़ कर चल रहा है ! अब तक विलास और नीच वासना नहीं गई ! जिस देश के युवक ऐसे हों उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिए ! देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज !

प्रतिन्यास : इसी समय देवसेना आती है।

देवसेना— क्या है, बाबा ? क्यों चिढ़ रहे हो ? जाने दो, जिसने नहीं दिया वह कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।

पर्ण — देवसेना ! अन्न पर स्वत्व है भूखों का, और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए, हम भूखों के लिए रख छोड़ा है। वह थाती है, उसे लौटाने में इतनी कुटिलता ! विलास के लिए उसके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिए नहीं। अन्याय का समर्थन करते हुए तुम्हें भूल न जाना चाहिए कि ....

देवसेना— बाबा, क्षमा करो, जाने दो, कोई तो देगा !

पर्ण— हमारे ऊपर सैकड़ों अनाथ वीरों के बालकों का भार है, बेटी ! वे युद्ध में मरना जानते हैं परन्तु भूख से तड़पते हुए उन्हें देख कर आँखों से रक्त गिर पड़ता है।

देवसेना— बाबा, महादेवी की समाधि स्वच्छ करती हुई जा रही हूँ !

कई दिन से भीम नहीं आया, मातृगुप्त भी नहीं, सब कहाँ हैं ?

पर्ण — आवेंगे बेटी ! तुम बैठो, मैं अभी आता हूँ। (**पर्णदत्त जाता है**)

देवसेना — संगीत सभा की अंतिम लहरदार तान धूपदान की एक क्षीण गंध धूप रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद इन सबों की प्रतिकृति, मेरा क्षुद्र नारी जीवन ! मेरे प्रिय गान, अब क्यों गाऊँ और क्या सुनाऊँ ! इस बार-बार के गाए हुए गीतों में क्या आकर्षण है ! क्या बल है जो खींचता है ! केवल सुनने ही की नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनन्त काल तक कंठ मिला रखने की इच्छा लग जाती है !

[**देवसेना गाती है**]

शून्य गगन में खेलता जैसे चन्द्र निराश।
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश।
हृदय, तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा मुझ में ?
मचलता है बता क्या दूं छिपा तुझ से न कुछ मुझ में ।।
रसनिधि में जीवन रहा, मिटी न फिर भी प्यास।
मुंह खोले मुक्तामयी सीपी स्वागत आस ।।
हृदय, तू है बना जलनिधि लहरियाँ खेलतीं तुझ में।
मिला अब कौन सा नव रत्न जो पहले न था तुझ में ।।

[**गाते हुए चली जाती है**]

प्रतिन्यास : वेश बदले हुए स्कंदगुप्त का प्रवेश !

स्कंद— जननी ! तुम्हारी पवित्र स्मृति को प्रणाम !

प्रतिन्यास : स्कंदगुप्त समाधि के समीप घुटने टेक कर फूल चढ़ाते हैं।

स्कंद— **माँ ! अन्तिम बार आशीर्वाद नहीं मिला, इसी से यह कष्ट, यह अपमान माँ ! तुम्हारी गोद में पल कर भी न मर सका।**

प्रतिन्यास : देवसेना प्रवेश करती है।

देवसेना— हाँ, राजाधिराज ! धन्य भाग, आज दर्शन हुए !

स्कंद— देवसेना, बड़ी-बड़ी कामनाएँ थीं।

देवसेना— सम्राट् !

स्कंद— क्या तुमने यहाँ कोई कुटी बनाली है ?

देवसेना— हाँ, यहीं गाकर भीख माँगती हूँ, और आर्य पर्णदत्त के साथ रहती हुई महादेवी की समाधि परिष्कृत करती हूँ !

स्कंद— मालवेश कुमारी देवसेना ! तुम और यह कर्म ! समय जो चाहे करा ले ! कभी हमने भी अपने काम का क्रम बनाया था ! (**रुक कर**) देवसेना, यह सब मेरा प्रायश्चित है। आज मैं बन्धुवर्मा की आत्मा को क्या उत्तर दूंगा, जिसने निःस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अपित कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊँगा ! मैं यह सब देखता हूँ और जीता हूँ !

देवसेना— मै अपने लिए ही नहीं माँगती, देव ! आर्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्न एकत्र किए हैं ! वे सब निरवलम्ब हैं। किसी के पास टूटी हुई तलवार ही बची है, तो किसी के जीर्ण वस्त्र-खंड। उन सब की सेवा इसी आश्रम में होती है।

स्कंद— वृद्ध पर्णदत्त, तात पर्णदत्त, तुम्हारी यह दशा ! जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जंगल की लकड़ियाँ बटोर कर आग सुलगाता है ! देवसेना ! अब उसका कोई काम नहीं ! चलो, महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हों ! हम तुम अब अलग न होंगे। साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ, अब अपना ममत्व तुम्हें अपित करके उऋण होऊँगा, और एकान्तवास करूँगा।

देवसेना— सो न होगा सम्राट्। मैं दासी हूँ, मालव ने जो देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा

का अपमान न करूँगी ! सम्राट्, देखो, यहीं पर सती जयमाला की भी छोटी सी समाधि है ! उसके गौरव की भी रक्षा होनी चाहिए !

स्कंद— देवसेना, बंधु बंधुवर्मा की भी तो यही इच्छा थी !

देवसेना— परन्तु क्षमा हो, सम्राट् ! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्व को कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी; परन्तु आपके प्राप्त में भाग न लूंगी।

स्कंद— देवसेना, एकांत में ! किसी कानन के कोने में ! तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं, एक बार कह दो !

देवसेना— तब तो और भी नहीं। मालव का महत्व तो रहेगा ही, परन्तु उसका उद्देश भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिये देवसेना जीवित न रहेगी ! सम्र ाट, क्षमा हो ! इस हृदय में आह, कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोड़ कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे कामना के भवंर में फंसा कर कलुषित न कीजिए, नाथ ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है ! अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।

प्रतिन्यास: देवसेना स्कंद के पैरों पर गिर पड़ती है और स्कंद संबोध देते हुए कहता है !

स्कंद— उठो देवसेना, तुम्हारी विजय हुई ! आज मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं कुमार-जीवन ही व्यतीत करूंगा। मेरी जननी की समाधि इसमें साक्षी है।

देवसेना— हें, हें, यह क्या किया !

स्कंद— कल्याण का श्रीगणेश यदि साम्राज्य का उद्धार कर सक तो उसे पुरगुप्त के लिए निष्कंटक छोड़ जाऊँगा!

देवसेना— (**गहरी सांस लेकर**) देवव्रत, तुम्हारी जय हो!

प्रतिन्यास: यह प्रसाद की तीसरी झांकी है। जीवन कैसा है, यह प्रसाद जी ने बड़ी सुन्दरता से पात्रों के मुख से कहला दिया है उनके नाटकों में स्त्री सबसे बड़ी शक्ति है जिसके बल पर कभी जीवन नीचे गिरता है, कभी ऊपर उठता है और जब स्त्री ऊँचे आदर्श की होती है तो वह सारे जीवन पर प्रकाश डालती है। करुणा की रागिनी में गूंज कर उसकी वाणी जीवन को उच्च बनाने का अमर संदेश देती है! प्रसाद के पुरुष-पात्रों में अगर बल है तो स्त्री पात्रों में तेज। और देवसेना तो सारे भारतीय साहित्य को उनकी अमर देन है।

प्रेम की आँखें

नाटक के पात्र

१ **मदन मोहन**—नगर के प्रतिष्ठित वकील, ३२ वर्ष।

२ **रेखा**—उनकी पत्नी, २६ वर्ष।

३ **बैजनाथ**—मुवक्किल, ४० वर्ष।

समय—संध्या ५ बजे।

स्थान—मदनमोहन वकील के बँगले का बैठक-खाना।

[मदन मोहन का बैठक-खाना। रेखा एक आराम कुर्सी पर बैठी हुई एक पुस्तक, "दि एपिक आफ़ माऊंट एवरेस्ट" पढ़ रही है।

मदन मोहन के आने की पदध्वनि। रेखा पढ़ना बन्द कर सिर उठाती है।]

रेखा— अच्छा आप हैं, कहिए आ गये!

मदन— हाँ! अभी ही चला आ रहा हूँ। कोर्ट आज देर से उठा और मेरा केस सबसे आखीर में था। इसीलिएं कुछ देरी हो गई। और तुम्हारा पढ़ना तो खतम नहीं हुआ! क्या पढ़ रही हो?

रेखा— कुछ नहीं, यों ही। यह पुस्तक हाथ लग गई! बड़ी रोचक है। बैठ जाइये न!

मदन— (**बैठते हुए**) हाँ आज दिन भर इस कोर्ट से उस कोर्ट जाते जाते थक गया। काम बहुत था, खड़े खड़े पैर दर्द करने लगे। ये लो! (**बैठते हैं**)।

रेखा— इस आराम कुर्सी पर...

मदन— नहीं, इसी पर आराम से हूँ। हाँ, किस पुस्तक के बारे में कह रही थीं?

रेखा— यह पुस्तक आपकी आलमारी में ही तो रखी हुई थी, 'दि एपिक आफ माउंट एवरेस्ट।' बड़ी अच्छी पुस्तक है ! सबसे अच्छी बात जो इस पुस्तक में है वह यह है कि मनुष्य असफल होने पर भी हर बार अपनी शक्ति को बढ़ाता हुआ अजेय प्रकृति को अपनी अनुचरी बना लेता है। और हुआ भी यही, शेरपा तेन सिंह ने अंत में उस पर विजय प्राप्त कर ही ली ! अभी तक माउंट एवरेस्ट ने मानव को पराजित किया था, वह उसके मस्तक पर अभी तक तिलक नहीं कर सका। उसके चरणों पर चीटियों की तरह ही रेंगता था। किन्तु मनुष्य की शक्तियाँ असीम हैं, और आज वह माउंट एवरेस्ट के मस्तक का अभिनन्दन करके ही रहा।

मदन— अभिनन्दन किया या उसे अपने पैरों से कुचला ?

रेखा— मनुष्य अपनी विजय में तो यह सब करता ही है किन्तु माउंट एवरेस्ट के शिखर पर चढ़कर जब उसने अपनी शक्ति की घोषणा की तो उसकी वाणी विश्व भर में फैल गयी।

मदन— किन्तु एवरेस्ट के शिखर पर चढ़ा हुआ मनुष्य कितना छोटा लगा होगा ! जैसे विशाल हिम शिखर के ऊपर एक काला धब्बा ! मनुष्य ने अभी तक प्रकृति पर जितनी विजय प्राप्त की है उसमें वह स्वयं काला धब्बा होकर रह गया है।

रेखा— लेकिन यह भी तो सोचिए कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में उसे कितनी सुबिधाएं प्राप्त हो गई हैं ! उसने संसार के दूर से दूर देश को अपने ही घर का एक कोना बना लिया है जहाँ छोटे से छोटे समाचार उसे एक क्षण में मिल जाते हैं। एरोप्लेन पर चढ़कर वह देश की सीमाओं को ऐसे पार कर जाता है जैसे आप स्वदेशी नुमायश की एक दुकान से दूसरी दुकान पर पहुँच जाते हैं !

मदन— हाँ ! वह पुरानी बात तो नई होती जान पड़ती है कि वामन

भगवान ने साढ़े तीन पैर में ही सारे ब्रह्मांड को नाप लिया! पहले यह शरीर की शक्तियों से होता था, अब मशीनों से होता है।

रेखा— तो उसमें हानि क्या है? समय तो ऐसा आने वाला है कि आप यहाँ जबलपुर में बैठे न्यूयार्क की कोर्ट में अपनी प्रेक्टिस कर सकें। अभी यह आश्चर्यजनक मालूम होता है, आगे चल कर यह जीवन का एक साधारण और स्वाभाविक क्रम हो जायगा!

मदन— तब तो मनुष्य भी मशीनों की तरह काम करने लगेगा और हम चुम्बक की एक ऐसी मशीन बन जावेंगे जो गरीबों के रक्त विन्दुओं को रुपयों में बदल कर खींचने लगेगी!

रेखा— खैर! ऐसी प्रैक्टिस तो आपकी चली नहीं है। लेकिन अगर ऐसा हो जाय कि प्रत्येक क्षेत्र में मशीन मनुष्य के हाथों की जगह ले ले, तो मनुष्य का कितना परिश्रम बच जाय। छोटे कामों की उलझनों से उसका दिमाग स्वतंत्र हो जाय और वह नई नई बातों को सोचने के लिए सदैव उत्सुक और प्रफुल्लित रहे।

मदन— लेकिन परिश्रम से बचकर मनुष्य का दिमाग अवकाश की उच्छृंखलता में दानव भी बन सकता है! जहाँ विज्ञान के सहारे वह अपनी सुविधाओं को बढ़ाने की चेष्टा करेगा, वहाँ वह अपने विनाश को भी निमंत्रण देगा। सुख और संतोष के अनुपात में उसकी चिंताएँ भी बढ़ेंगी! मित्रता में वह एरोप्लेन पर चढ़कर किसी दूसरे देश में अपने मित्र से क्षण भर में मिल सकता है तो शत्रुता में वह उतने ही कम समय में आग भी बरसा सकता है या अपने ऊपर आग बरसाने का निमंत्रण भी दे सकता है। हिरोशिमा और नागा-साकी पर एटम बम की घटना से आज भी इतिहास जल रहा है।

रेखा— तो यह तो मनुष्य के स्वभाव का दोष है! विज्ञान का दोष कैसे कहा जा सकता है? मनुष्य सहानुभूति के बदले शत्रुता मोल न ले! यदि एक एटम बम अपनी ज्वाला से हिरोशिमा और नागा साकी को खंडहर बना सकता है, तो दूसरा कोई हाइड्रोजन बम एक सेकिन्ड में अपनी शीतलता से संसार भर की खेती को हलकी फुहारों से सींच सकता है और दूसरे दिन ही सारे संसार के खेतों को नन्हीं-नन्हीं बालों में लहराने का अवसर दे सकता है।

मदन— हो सकता है! लेकिन मनुष्य में पशुत्व अभी बाकी है। वह अपना स्वार्थ इतनी जल्दी भुला नहीं सकता! इंच भर शक्ति और फुट भर अधिकार मिलते ही वह एक पिशाच में बदल जाता है!

रेखा— पशु एक पिशाच में बदल जाता है?

मदन— हाँ, क्योंकि वह स्वार्थी है!

रेखा— तो इतने वर्षों की सभ्यता और संस्कृति मनुष्य को पिशाच बनने से नहीं रोक सकी?

मदन— रोकना तो दूर की बात है! मैं तो कहूँगा कि आज की सभ्यता मनुष्य को पिशाच बनाने की मशीन है। यह बुद्धि की सभ्यता है, श्रद्धा की नहीं। स्वार्थ बुद्धि में मनुष्य किसी भी क्षण, पशु से पिशाच बन किसी दूसरे का गला काटने लगता है। इसीलिये महात्मा गांधी ने हृदय के परिवर्तन को सच्ची सभ्यता की कसौटी समझा! और इस दृष्टिकोण से मैं तो कहूँगा कि शहर से अधिक गाँव के लोग सभ्य हैं।

रेखा— शहर से अधिक गाँव के लोग सभ्य हैं?

मदन— हाँ! क्योंकि वे बुद्धिवादी होकर अपने स्वार्थ में अंधे नहीं हो गये हैं! उनमें परस्पर सहानुभूति है, श्रद्धा है! स्वार्थ साधन में रुपयों का बड़ा हाथ है, जो बेचारे गाँव वालों के पास

नहीं है ! नगरलक्ष्मी ने शहरों को गाँवों से बहुत दूर कर दिया है ! और दोनों को दूर करने में यह रुपयों की विभाजक रेखा है ! नगरों की सभ्यता तो रुपयों की गोलाई में पृथ्वी की गोलाई देखती है !

रेखा— तो हम लोग जो नगरों में रहते हैं, असभ्य हैं ?

मदन— (**कुछ हँस कर**) मैं नगरों में रहने वाले सभी आदमियों के सम्बन्ध में ऐसा तो नहीं कह सकता ! नियम में अपवाद होते ही हैं, लेकिन साधारणतय: तो ऐसा कहा ही जा सकता है कि नगरों की अपेक्षा गाँव के लोग कहीं सच्चे और कहीं आत्मीय हैं ! आधुनिक सभ्यता जो नगरों में फैली है, भौतिक है, जिसने मनुष्य का अंत:करण दबाकर इंद्रियों को उभार दिया है और इंद्रियों ने उसकी शारीरिक इच्छाओं और वासनाओं में पंख लगा दिये हैं ! पंख जिससे वे दूर दूर तक उड़ने लगी हैं ! मनुष्य पर आज इंद्रियों का ही अधिकार है, यहाँ तक कि प्रत्येक पुरुष की ग्यारह स्त्रियाँ हो गयी हैं। और प्रत्येक स्त्री के ग्यारह पति।

रेखा— ग्यारह स्त्रियाँ और ग्यारह पति ?

मदन— हाँ, पुरुष पर शरीर की दस इंद्रियाँ वैसे ही अधिकार जमा कर काम कराती हैं। दस इंद्रियाँ और एक तुम ग्यारह। मेरी ग्यारह स्त्रियाँ हुई या नहीं ?

रेखा— (**व्यंग्य से**) और मेरे ग्यारह पति हैं ?

मदन— तुम अपने सम्बन्ध में सिर्फ दस कह सकती हो ! मुझे छोड़ दो ! तुम्हारी दस इंद्रियाँ तुमसे वैसी ही सेवा लेती जैसे दस पति अपनी स्त्रियों से सेवा लेते हैं। मेरी तो खैर कोई हस्ती नहीं ! अगर होती तो मैं ग्यारहवाँ पति होता !

रेखा— (**कुछ झुंमलाहट की हँसी हँसते हुए**) देखिये आप मेरा अपमान कर रहे हैं !

मदन— मैं तुम्हारा अपमान नहीं कर रहा हूँ रेखा ! सिद्धांत की बात कह रहा हूँ ! आज की सभ्यता की आलोचना कर रहा हूँ !

रेखा— कभी गाँव वालों की अपेक्षा मुझे असभ्य कह रहे हैं, कभी मेरे ग्यारह पतियों की बात कह रहे हैं। यह मेरा अपमान नहीं है ?

मदन— मैं सब स्त्रियों और पुरुषों के सम्बन्ध में कह रहा हूँ रेखा ! केवल तुम्हारे सम्बन्ध में नहीं ! आज बार लाईब्रेरी में महात्मा गांधी के हरिजन में एक लेख पढ़ रहा था ! .

रेखा— (**बीच ही में**) तो आज कल बार रूम में यही होता है ! आप लोगों की वकालत चलती नहीं है। अखबार और समाचार पत्र ही पढ़े जाते हैं ! इसी लिये ये सब बातें सूझती हैं ! किसी को असभ्य कहना, किसी को लांछित करना. . . .आज कितने रुपये मिले ?

मदन— आज तो रुपये नहीं मिले ! जब मुकदमा पूरा हो जाता है तब कहीं रुपये मिलते हैं। परसों जो पेशगी रुपये मिले थे वे मैंने तुम्हें दे ही दिए थे !

रेखा— तो वे थे ही कितने ! सिर्फ पचास ? सो वह कपड़े वाला ले गया !

मदन— तो तुम चाहे जिसे दे दो ! रोज तो मुझे रुपये मिलने से रहे ! आज कल वकालत भी ऐसी चौपट हो रही है कि पहले जहाँ ६०० रुपये मिलते थे, वहाँ मुश्किल से तीन, साढ़े तीन सौ पर मामला खत्म हो जाता है। मेहनत उतनी ही, लेकिन पैसे उससे आधे भी नहीं और अब न्याय पंचायत और ग्राम पंचायत सिर पर सवार है। अब. . . अब तो आत्महत्या करने पर ही वकीलों की इज्जत आबरू बचेगी।

रेखा— कोई विशेष अन्तर नहीं होगा ? पहले वकील दूसरों की हत्या करते थे, अब अपनी करेंगे ! और परहवन की अपेक्षा आत्म हवन कहीं अच्छा है !

मदन— अच्छा, तो तुम मुझे आत्म हत्या के लिये उत्साहित करती हो!

रेखा— मैं क्यों उत्साहित करूँगी! आपकी तरह मैं भी सिद्धान्त की बात कह रही हूँ! जैसी ग्यारह पतियों की बात थी वैसी ही आत्म- हत्या की बात है।

मदन— अच्छा, तो तुम मुझसे बदला ले रही हो!

रेखा— बदला लेने का मेरा स्वभाव है भी नहीं! मैं तो ५० रुपयों की बातें कर रही थी जो कपड़े वाला ले गया!

मदन— तो कपड़ों पर इतना खर्च क्यों करती हो?

रेखा— इसकी भी आलोचना आप कीजिए! आपके एक सूट में चाहे दो-सौ रुपये खर्च हो जायें, कोई बात नहीं! अगर एक साड़ी में ५० रुपये में खरीद लूं तो आप उसकी आलोचना करेंगे! कहाँ संसार के लोग अपनी स्त्रियों की सुविधा के लिए जमीन आसमान एक कर देते हैं, एक आप हैं कि ५० रुपये की एक साड़ी की बात पर कहते हैं, कपड़ों पर इतना खर्च क्यों करती हो?

मदन— मेरी बात तुम उल्टी समझती हो, रेखा! मैं तो यह सिर्फ इसलिए कह रहा था कि एक मद पर अधिक खर्च होने पर तुम्हें ही और चीजों का प्रबंध करने में कठिनाई होगी। मुझे तो जितना भी मिलता है वह तो मैं तुम्हारे हाथों में रख ही देता हूँ!

रेखा— आप तो यह कह कर फुर्सत पा जाते हैं, मुसीबत होती है मेरी! घर का सारा प्रबंध भी करूं और आपकी आलोचनाएँ भी सुनूं!

मदन— यह तुम्हारी उदारता है, रेखा!

रेखा— (**बीच ही में**) कि मैं आपकी आलोचनाएँ सुनूं?

मदन— तुम तो बीच ही में बात काट देती हो! मैं तो यह कह रहा था कि. . . . .

रेखा— (**बीच ही में**) अच्छी बात है! मैं अब कभी बीच में बोलूंगी भी नहीं !

मदन— तुम तो थोड़ी सी बात में बुरा मान जाती हो, रेखा ! मैं तो यह कह रहा था कि आदमी को सब तरह से सम्हालना चाहिये। अच्छे दिनों में खुश रहे और बुरे दिनों में भी घर की खुशी कम न होने दे !

रेखा— (**अन्यमनस्कता से**) हूँ !

मदन— और पत्नी तो जिन्दगी की वह नियामत है जो जिन्दगी की राह के कांटों को भी छूकर फूल बना देती है !

रेखा— (**अन्यमनस्कता से**) हूँ !

मदन— आज के अखबार में ही यह खबर छपी है कि छपरे के एक गाँव में एक स्त्री सती हो गई ! पति महाशय बीमार थे ! चार महीने से दवा हो रही थी। अंत में डाक्टर ने जवाब दे दिया "आज की शाम इनकी आखिरी शाम है।" स्त्री ने दुःख से अपने शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़क लिया और आग लगा ली ! पति के पहले ही स्त्री चल बसी।

रेखा— (**अन्यमनस्कता से**) हूँ !

मदन— इसी तरह कल के अखबार में था कि . . .पति के शरीर में खून नहीं था। डाक्टरों ने कहा, कि इनके शरीर में खून पहुँचाया जाए, तो बच सकते हैं ! स्त्री ने अपने शरीर से आधा पौंड खून दे दिया। स्त्री खुद मूर्छित है। (रुक कर) तुम तो कुछ बोलती भी नहीं हो !

रखा— क्या बोलूं ? बोलती हूँ तो आप कहते हैं कि तुम बीच ही में बात काट देती हो !

मदन— तो हमेशा तुम मेरी बात तो काटती नहीं हो! अब इन स्त्रियों के समाचारों को ही लो !

रेखा— क्या इस तरह की स्त्रियों की खबरों के सिवाय अखबार वाले पुरुषों की खबर नहीं छापते ?

मदन— छापते क्यों नहीं ? किन्तु मैं तो यह सिद्ध करना चाहता था कि पत्नी ज़िन्दगी की वह नियामत है कि ज़िन्दगी की राह के कांटों को छूकर फूल बना देती है !

रेखा— और पति ज़िन्दगी की राह पर उछल कूद मचाता हुआ बन्दर की तरह चले और पत्नी जिन कांटों को फूल बना दे, उन्हें सूंघने के बजाये खा जावे !

मदन— रेखा ! अब तुम मेरा अपमान कर रही हो !

रेखा— मैं अपमान नहीं करती ! लेकिन पतियों के लिए भी तो कुछ कर्त्तव्य होने चाहिये ! समाज का काम सिर्फ स्त्रियों को शिक्षा देना है, पुरुषों को नहीं। जो समाज पक्षपात करे उसे नष्ट हो जाना चाहिये !

मदन— लेकिन समाज कब पुरुषों पर अनुशासन नहीं रखता ! पुरुष सारे संसार में घूमता है, हज़ारों आदमियों से मिलता है। उसकी व्यवहार बुद्धि अधिक पैनी हो जाती है। इस प्रकार का अवसर स्त्रियों को कम मिलता है। वे स्वभाव से ही लज्जा करने वाली होती हैं। वे संसार के संघर्षों में पुरुषों की तरह भाग नहीं ले सकती। इसलिए उनकी बुद्धि. . . .

रेखा— अधिक निश्चल रहती है ! पुरुष सारे संसार में घूमता है, सब तरह के लोगों से मिलता है तो उसकी बुद्धि अधिक उच्छृं-खल हो जाती है ! वह धोखेबाज और फरेबी हो जाता है !

मदन— मुझ में कौन सा धोखा और फरेब है ?

रेखा— मैं कहूँ, आप बुरा तो न मानेंगे ? आपने मेरा कब ध्यान रक्खा है ? दूसरे पुरुष की कुरूपा स्त्री भी आपको आकर्षित कर सकती है, लेकिन . . .

मदन— (बीच में ही कुछ तीव्र स्वर में) रेखा. . . .

रेखा— बस, स्वर बदल गया! मैं इधर बीमार रहूँ, आपको अपने कोर्ट के काम से एक दिन की फुर्सत नहीं! जब पिता के घर थी, तो मामूली सिर दर्द होने पर सिविल सर्जन आते थे! इंजेक्शन लगते थे, अब तो यहाँ बुखार भी आ जाय तो डाक्टर नहीं आता!

मदन— मैं तुम्हारे पिता से अगर आधा भी धनवान होता, तो सब कुछ करता! लेकिन अब भी क्या कुछ नहीं करता! फिर सिर दर्द तो अमृतांजन से भी अच्छा हो सकता है! सेरिडान से भी काम चल सकता है! मैं व्यर्थ पैसा बहाने का आदी नहीं हूँ।

रेखा— तो क्या मेरे बाबूजी पैसा बहाने के आदी हैं? देखिये! आप मेरे पिता के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते!

मदन— मैं तुम्हारे पिता जी के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह रहा हूँ! मैं तो अपनी स्थिति के बारे में कह रहा हूँ! जैसे रहते बनता है वैसे रहता हूँ!

रेखा— क्या कहते हैं? आपने मुझे इतने सुख भी तो नहीं दिए कि मैं आपकी अच्छी बुरी बातें चुपचाप देखूं और सुनूं! जब बाबूजी के साथ कहीं जाती थी तो सेकेंड क्लास से कम में कहीं गई भी नहीं! आपने कभी मुझे इन्टर से ऊँचे दर्जे में बिटलाया है? मेरा तो दम घुट जाता है उस भीड़ में?

मदन— तब तो शायद थर्ड क्लास में बैठने वाले लोग ट्रेन में बैठते ही दम घुटने से मर जाते हैं? हिन्दुस्तान की इस गरीबी में कम से कम इतनी शान शोभा नहीं देती! इतनी सुकुमारता से जीवन कट नहीं सकता!

रेखा:— तो ऐसी मैं क्या सुकुमार हूँ जो आपकी जिन्दगी के कटने में बाधा डाल रही हूँ? आपके कमरे में मखमली गद्दे तो बिछे हैं नहीं कि मैं उन्हीं पर आराम करूँ और दीन दुनियाँ

की खबर भूल जाऊं! मेरे सिर पर यू० डी० क्लोन मला जाये और मुझे नींद न आये! फूल की कली चिटखे और कान में दर्द बढ़ जाये !

मदन— ये बातें रहने दो! लेकिन रात दिन शीशे के सामने बैठकर अपनी आंखें देखना, सुरमा लगाना, भौहों के बाल चुनना, बाल संवारना, पौमेड, रूज़ लगाना. . इस सब की भी एक हद होती है।

रेखा— (**तड़प कर**) आप को क्या अधिकार है मेरी इस तरह आलोचना करने का? ऐसी बातें मैंने कभी नहीं सुनी, मामूली शरीर की सफाई करने में भी आपको एतराज होता है? और ऐसे इतराज की मैं परवाह क्यों करूंगी? बाल संवारना, पौमेड रूज लगाना! इनमें कौन सी नई बात हो गई? ऐसे पति को मैं क्या कहूँ, जिसे साफ सुथरी पत्नी भी अच्छी नहीं लगती! ऐसे पति को चाहिये थी गाँव की एक गँवारिन . . . . जिसको कपड़े लत्ते पहनने का ढंग भी न आता हो!

मदन— ठीक, मुझे गाँव की ग़ँवारिन ही चाहिये थी! मुझे सुरमें भरी आंखें नहीं चाहिये, मुझे प्रेम की आंखें चाहिये! जिन आंखों में जीवन की करुणा हो, जिनमें छिद्रान्वेषण न हो, किन्तु मेरे दोषों के प्रति सहानुभूति हो! जिन प्रेम की आंखों में मेरे दर्द के आंसू हों. . . और जिन आँखों की शीतल छाया में कोर्ट के कामों से थका हुआ आकर सो रहूँ !

रखा— तो ले आइये ऐसी कोई गाँव की गँवारिन? अभी कुछ नहीं बिगड़ा है!

मदन— अब क्या लाऊँगा! हमारा विवाह तो ऐसा होता है कि उसमें जिन्दगी का फैसला एक बार ही हो जाता है! (**गहरी सांस लेकर**) औफ ओह! पिता जी कहते थे कि हमेशा अपने घर से गरीब घर में शादी करना अच्छा होता है। लड़की अपने

पिता के घर से पति का घर मिलान कर, पति को मन ही मन देवता समझती है. . . 'दि एपिक आफ माउन्ट एवरेस्ट' पर बहस नहीं करती! अपने से अधिक धनवान लड़की के मिज़ाज ही नहीं मिलते! दिमाग सातवें आसमान पर रहता है, पति का घर उसे अपने पिता के बंगले के आउट हाउस जैसा दिखता है!

रेखा— जब आप के ऐसे विचार हैं, तब तो मेरे लिये इस घर में जगह ही नहीं होनी चाहिये! आप इन विचारों को अभी तक मुझसे छिपाये क्यों रहे? मैं बहुत पहिले ही आपके रास्ते से हट जाती! मैं भी इस प्रकार कभी लांछित न होती! ठीक है, मैं यहाँ से चली जाऊंगी! मुझे भी अपने आत्म सम्मान का ख्याल है!

मदन— तो कहाँ जाने का विचार है।

रेखा— आप मुझे समझते क्या हैं, कि मैं कहाँ जाऊंगी! जाऊंगी अपने पिता जी के घर पर, जिन पिता जी को मेरे पीछे आपकी कटु आलोचना मिला करती है! और ऐसी आलोचना. . ..

[बाहर दरवाजे पर खट्-खट् की आवाज होती है। रेखा अपना स्वर कुछ नीचा कर लेती है।]

रेखा— अच्छी बात है! तो मैं जाने की तैयारी करती हूँ।

[मदन मोहन दरवाजे के समीप जाता है: रेखा का प्रस्थान]

मदन— **(तीव्र स्वर में)** कौन है?

स्वर— वकील साहब घर में हैं?

मदन— कौन पुकारता है? मैं इस समय किसी से बातचीत नहीं करना चाहता।

स्वर— सरकार, एक मुकदमा है।

मदन— जाओ इस वक्त यहाँ से दूर हटो! मेरे सिर में दर्द है!

स्वर— सरकार मर जाऊँगा। आपकी सरन में आया हूँ। भगवान की दया से ....

मदन— (**दरवाजा खोलकर**) कौन है ?

स्वर— मैं हूँ, सरकार! एक मुसीबत का मारा गरीब आदमी। सरकार गरीब परवर ह। भगवान की दया से ......

[**एक व्यक्ति का प्रवेश**]

मदन— मैंने कह दिया कि इस वक्त में कोई बातचीत नहीं करना चाहता, मेरे सिर में दर्द है !

आगन्तुक—नहीं, सरकार ! एक मिलट सुन लें। बहुत जरूरी मुकदमा है।

मदन— जाओ जी, तुम खामखा मेरा दिमाग चाट रहे हो। मैं इस वक्त कोई बात नहीं करूँगा। अभी तो आया हूँ कोर्ट से। फिर उसी चक्की में पिसने लगूं !

आगन्तुक—(**शिथिलता से**) अच्छी बात है, सरकार ! जैमी मरजी! भगवान की दया से, मैं घर जा के क्या मुंह दिखलाऊंगा... कह दूंगा कि सरकार बहुत थक गये थे। मेरा भाग ही चुल्लू भर का है, तो समन्दर का क्या दोष !

मदन— एक मिनट को चैन नहीं। (**कुछ रुक कर**) अच्छा बोलो, क्या कहना चाहते हो ?

आगन्तुक—वाह सरकार बहुत दीन दयालु हैं ! जब सरकार ने पूछ दिया तो भाग फिर गये, पुराने जमाने की बात झूठी थोड़ी हो सकती है। 'बड़े बड़ाई न तजें, कोटिक लहैं कलेस।'

मदन— अरे कहोगे भी, बात क्या है ?

आगन्तुक—सरकार ! बहुत जबर मुकदमा है, आपके ऊँचे नाम ने बुला लिया सरकार... 'तरुवर सोई बिलम्बिये, बारह मास फलेत।'

मदन— देखो! ज़रूरत से ज़्यादा बात मत करो। मेरे पास वक्त ज़्यादा नहीं है। क्या नाम है तुम्हारा ?

आगन्तुक—बैजनाथ, सरकार !

मदन— हाँ, तो क्या बात है ?

बैजनाथ — सरकार ! जायजाद का मामिला है। अब आपई पार लगाएँ, सरकार ! भगवान की दया से।

मदन— कैसी जायदाद का ?

बैज०— सरकार ! आपके सम्हालने से सम्हल जायगा नहीं तो घर—गिरस्ती जायगी सरकार ! मंगलिया दानों दानों को तरस जायगा, सरकार ! मंगलिया की माँ से बचन हार आया हूँ ! 'तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार,' सरकार !

मदन— कैसा बचन हार आया है ?

बैज०— सरकार ! उसने कहा तुमसे कुछ नही होने का ! तुम तो घर में बैठे कबीर की बानी बाँचोगे, भगवान की दया से। मंगलिया की जिन्दगानी को डुबा के तुम भौसागर के पार नहीं जा सकते। सरकार ! घर वाली भी तो दाने-दाने को तरस रही है ! उसने कछ गहने दे के मंगलिया की जिन्दगानी और अपनी इज्जत बचाने के लिये भेजा है, सरकार !

मदन— तो किस लिये भेजा है ?

बैज० — सरकार दोनों जून सत्तू भी नहीं मिल पाता। ऐसे हमारे खराब दिन आ गये सरकार ! घरवाली ने दो दिन से नहीं खाया, सरकार !

मदन— तो तुम अपनी घरवाली से कह क्यों नहीं देते कि वह अपने बाप के घर जाके रहे ! क्यों तम गरीबों के साथ तकलीफ उठाती है ?

बैज०— सरकार ! हमने तो कई बेर उससे कहा, भगवान की दया से कि तुम अपने बाप के घर चली जाओ। हम गरीब के साथ क्यों पिसती हो! उसका बाप सरकार! बड़ा आसामी है, भगवान की दया से। दस बीघे की खेती है सरकार ! बैजनाथ क्या दे उसके मुकालबे में ! उसको अपने बाप के घर तकलीफ न होगी

सरकार ! पानी लौट के समुन्दर में पहुँच जायगा ! पर सरकार ! भगवान की दया से, उसकी समझ में कुछ आता नहीं, वो कहती है कि जो तुम्हारी हालत होगी, सो मेरी हालत होगी। जे कौन बात कि तुम तो दानों दानों को तरसो और मैं मौज से अपने बाप के घर रहूं ?

मदन - ऐसा कहती है तुम्हारी घरवाली ! और जब वह बीमार पड़ती है तुम डाक्टर वैद्य बुलावाते हो ?

बैज० -- सरकार एक तो वो बीमार नहीं पड़ती, भगवान की दया से, कभी-कभी सिर में दरद होता है तो लौंग पीस के. . .

मदन -- खैर जाने दो इस बात को ! तो तुम्हें तुम्हारी घरवाली ने भेजा है ?

बैज० - हाँ सरकार ! उसी क कहने मे आया हूँ। उसने अपने चार गहने भी दिये हैं, भगवान की दया से कि उनको बेच के वकील साहब की फीस दे देना। सो सरकार ! उसके गहने लाया हूँ। क्या करता, सरकार ? पास में एक पैसा भी नहीं है। गहने न लेता तो सरकार की फीस कहाँ से देता ? पर सरकार ! गहने देते बखत उसकी आँखों में पानी भर आया था, सरकार ! सब भगवान की दया है, पै मुकदमा तो लड़ना है, सरकार ! 'पुरजा, पुरजा होई रहे, तऊ न छाँड़ैं खेत।' मुकदमा तो जबर है, सरकार !

मदन — तुम्हारा गाँव कहाँ है !

बैज०— सरकार ! बैलखेड़ी हमारा गाँव है, भगवान की दया से। पारसाल बाप मर गये। बड़े भाई हरनाथ ने सब जायदाद लेली ! दारू पीने में एक लम्बर है सरकार ! जब पी लेता है, सरकार ! तो औरत को औरत नहीं रहने देता। घरवाली के हाथ पाँव चूर कर देता है, सरकार ! जबान पर गाली-गलौज की मसाल जला लेता है, और भैरों बाबा की तरह बलकता है, सरकार !

उसने बाप की जायदाद से एक पैसा भी हमको नहीं दिया। खेत से बेदखल करने को कहता है और आसामी भेज के मारने की धमकी देता है, सरकार! पास में पैसा नहीं, मंगलिया दूध बिना बिलबिलाता रहता है। और जब उससे दूध के लिये पैसा माँगते हैं, सरकार! तो कहता है कि तुम दोनों को जेहल भिजवा दूँगा।...

मदन— जेल भिजवाना इतना आसान नहीं है ?

बैज०— सरकार की छाँह छू लूँ तो किसकी हिम्मत है कि मुझको और मंगलिया की माँ को जेहल भेजे। भगवान की दया से, दाँत उखाड़ लूँगा उसके गिनके, सरकार! वो तो मंगलिया की माँ में हिम्मत नहीं है, सरकार! जो आँखों को गीला किये रहती है, नहीं तो तलक भाँज के मेरे साथ खड़ी हो जाय, तो हरनाथ को दारू पीना भूल जाय।

मदन— तो मंगलिया की माँ रोती क्यों है।

बैज०— अब सरकार! धीरज तो मैं बहुत बँधाता हूँ! धीरज मोटी बात है, पै औरत जात ठहरी, सरकार! गाली भी देती है, तो रोते रोते देती है। मैंने जो आज उसको रोते देखा तो पगड़ी बाँध के उठ खड़ा हुआ, सरकार! बोला मंगलिया का हक जीत के लाऊँ, तब तो बैजनाथ नाम। लाठी कन्धे पै रख के खड़ा हो गया, भगवान की दया से। उसने पहिले तो बोली मारी, देखूंगी तुम्हारा पुरखारत! फिर गहने उतार के दे दिये। अब बात हार आया हूँ, सरकार!

मदन— खैर सब ठीक हो जायगा! मैं तुम्हारा मुकदमा ले लूँगा।

बैज०— वाह, सरकार! क्या कहना है! भगवान की दया से बड़ों की बड़ी बातें। 'साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय। सार सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय।'...अब तो सरकार, मैं

मंगलिया की माँ से कहूँगा कि दर्शन कर ले! तेरे लिये भगवान धरती पै उतरे हैं!

मदन— ये सब कहने की जरूरत नहीं है। मैं तुम्हारा मुकदमा कर दूँगा, लेकिन जानते हो, मेरी फीस बहुत ऊँची है ?

बैज०— सरकार का नाम ऊंचा है तो फीस भी ऊँची होगी। मेहनत मजूरी करके फीस पटा देंगे। ये तौ देवता की पूजा दाखल है। मैंने तो मेहनत करके फीस पटाने की बात घर पे कही थी. . . .पै सरकार मंगलिया की माँ ने अपने सगर गहने उतार के दे दिये और कहने लगी कि इन गहनों के होते हुए तुम्हें मजूरी करते नहीं देखूँगी। सरकार! आपकी फीस कितनी है ?

मदन— पचास रुपये।

बैज०— सरकार भगवान की दया से मेहनत मजूरी करके पटा देंगे। हमने मंगलिया की मां के गहने बाजार में दिखाये थे। दुकान-दार कहता था कि सब गहना २० रु० का होगा। सरकार! अब तौ उसके तन पै एक गहना भी नहीं रहा।

मदन— तो पहले से जब मुकदमें की फीस नहीं होगी, तो मुकदमा कैसे चलेगा ?

बैज०— सरकार! अभी गहनों को बेंच के २० रुपया दे दूँगा। बाकी की फीस मेहनत मजूरी करके दे दूंगा। सरकार! मंगलिया की माँ के सामने बचन हार आया हूँ! भगवान की दया सैं!

मदन— अच्छा।

बैज०— और सरकार! एक दरखास और है। सरकार को पाटन चलना पड़ेगा। मुकदमा वहीं की अदालत में है।

मदन— पाटन? लेकिन इस वक्त तो मैं पाटन नहीं जा सकता! घर में तबीयत ठीक नहीं है और साथ में कोई है भी नहीं।

बैज०— ऐं सरकार! घर में तबीयत खराब है? मैं दौड़ के किसी बैंद को बुलालूँ? नहीं मेरे लायक जौन काम.....

मदन— खैर इसकी जरूरत तो नहीं है! इस वक्त तो तुम्हारे मुकदमे...

बैज०— हाँ, सरकार! एक दिन की बात है? सरकार कोई इंतजाम कर लें तो बड़ी मेहरबानी हो। भगवान दाखल हैं सरकार! 'चाहे तो मेरु को छार करें और चाहें तो छार को मेरु बनावें।' हाँ, सरकार!

मदन— तो तुम कोई दूसरा वकील कर लो।

बैज०— अब सरकार मँझधार में आप ही हाथ लगा सकते हैं और की क्या बिसात सरकार! हम दूसरे वकील भी कर सकते हैं, पर सरकार उनपै हमारा भरोसा कैसे आये! 'कल्पवृक्ष को छोड़ के कौन थूहर के झाड़ देखै।'

मदन— (सोचते हुए) अच्छा!

बैज०— सरकार! कोई बात मन में न लायें, भगवान की दया से! जो हुकुम होयगा, उसको करेंगे।

मदन— तुमने अपनी घरवाली के गहने बेचे तो नहीं?

बैज०— सरकार! अभी तो नहीं बेचे। पै जब हुकुम करेंगे तो बेच के सरकार की फीस...

मदन— नहीं, उन्हें बेचने की जरूरत नहीं है।

बैज०— काहे सरकार?

मदन— मैं तुम से फीस नहीं लूँगा। तुम गहने अपने पास रक्खो। जब अपने घर जाओ तो वे गहने अपने हाथ से अपनी घरवाली को पहिना देना।

बैज०— (अत्यन्त उल्लास से) अरे वाह दीन दयालू..। गरीब परवर...

मदन— और उससे कह देना कि वकील साहब किसी ग़रीब औरत के गहने बिकवाकर अपनी फीस नहीं लेते।

बैज०— अरे, सरकार! आप साच्छात भगवान हैं। (पैरों पर गिरता

ह) वाह, वाह! दीन दयालू! मेरी बात रह गई। अरे मंगलिया की माँ.....

मदन--- उठो जी, यहां मंगलिया की माँ कहाँ है ? यह सब ठीक नहीं है। यह मेरा काम है कि गरीब पर कोई जुल्म न होने पाये ।

बैज०--- और सरकार आपने फीस भी नहीं ली, दीन दयालु!

मदन--- अब आगे चलकर झगड़ों के सुलझाने में कोई फीस भी नहीं ली जायगी। ग्राम पंचायत में फैसला हो जाया करेगा।

बैज०--- सरकार! आप सब कुछ कर सकते हैं! आप दीनबन्धु!

मदन--- मैं नहीं, सरकार करेगी। अब तो अपने देश में अपना राज है। सरकार खुद गरीबों का ध्यान रखकर उसके झगड़े बिना खर्च के पंचायतों से सुलझवा देगी।

बैज०--- वाह धन्य है, आपको, और आपकी सरकार को भगवान की दया से. . . .

मदन--- तो कब चलना है ?

बैज०--- सरकार! भगवान की दया से कलई चलें तो बड़ी मेहरबानी हो जाय। 'काल करे सो आज कर'. . .

मदन--- तुम बहुत भगत आदमी मालूम देते हो।

बैज०--- सरकार! मैं तो पैर की धूर हूँ, सरकार! आपके पुण्य परताप से चार वाणी सीख गया हूँ। और. . .

मदन--- अच्छा! अच्छा! अब जाओ। कल सुबह आना, कल चलेंगे।

बैज०--- और सरकार! मुकदमें की बातचीत ?

मदन--- वह सब सुबह कर लेंगे।

बैज०--- और सरकार, आपकी मेहबानी से गहना न बिके, पर चाहे जहाँ से फीस तो भगवान की दया से. . .

मदन--- (तीव्र स्वर से)देखो, बैजनाथ! जब मैं एकबार कह चुका हूँ तो फिर फीस नहीं लूंगा। जाओ तुम कल सुबह आना।

बैज०— सरकार हमारे और मंगलिया की माँ के चाम की पैतरी भी आप पहन लें, तो हम आप से उरिन नहीं होयँगे।

मदन— अच्छा जाओ!

बैज०— (पर छूते हुए) दीन दयालु की दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ोतरी होय। भगवान की दया से! 'मल निर्मल ते रहित ते साधू कोई न और।' सरकार जै राम जी की!

[**'सरकार की बढ़ोतरी होय' कहते हुए धीरे धीरे प्रस्थान**]

मदन— (**धीरे से, टहलते हुए**) मंगलिया के माँ के गहने! सारे गहने वह उतार कर कहती है, इन गहनों के होते हुए तुम्हें मजूरी करते नहीं देखूंगी। ये हैं प्रेम की आँखे, जो पति को मजूरी करते नहीं देख सकतीं।...ये आँखे प्रेम की आँखे हैं जो सुरमें भरी आँखों से अच्छी हैं! प्रेम की आँखे हैं।

[**रेखा का प्रवेश**]

मदन— क्यों तैयार हो गईं, तुम? पिता के घर कब जा रही हो?

रेखा— कल।

मदन— सब सामान ठीक हो गया?

रेखा— कल ठीक हो जायगा।

मदन— किसके साथ जाओगी?

रेखा— बैजनाथ के साथ।

मदन— बैजनाथ के साथ? कौन बैजनाथ?

रेखा— जो अपने स्त्री के गहने लाया है।

मदन— वह तो आसामी है, मुवक्किल है, उसके साथ कहाँ जाओगी?

रेखा— पाटन।

मदन— पाटन?

रेखा— हाँ, पाटन!

मदन— मैं तुम्हारी बातें कुछ समझ नहीं रहा हूँ!

रेखा— इसमें कठिनाई क्या है? मैं कल पाटन जाऊंगी बैजनाथ क साथ। इच्छा हो तो आप भी चलिए।

मदन— मैं तो जाऊँगा ही। मुझे उसका एक मुकदमा करना है!

रेखा— तो ठीक है, आप भी चलिए!

मदन— लेकिन तुम पाटन जाकर क्या करोगी?

रेखा— मैं मंगलिया की माँ की आँखें देखूँगी। जो गहने होते हुए अपने पति को मजूरी करते नहीं देख सकती।

मदन— मालूम होता है, तुमने मुकदमें की सारी बातें सुनी हैं?

रेखा— हाँ, मैंने सारी बातें सुनी हैं और मैं एक बात समझी!

मदन— क्या?

रेखा— बतलाऊँ?

मदन— बतलाओ।

रेखा— वह यह कि गाँव की स्त्री, शहर की स्त्री से अच्छी होती है। सुरमे से भरी आँखों की अपेक्षा उसकी प्रेम भरी आँखें अच्छी हैं।

मदन— अच्छा! यह तुमने मान लिया? और गाँव के पु ष के बारे में क्या समझा?

रेखा— गाँव के पुरुष की अपेक्षा शहर का पुरुष अच्छा होता है।

मदन— यह कैसे?

रेखा— आपने फीस नहीं ली। किसी गरीब स्त्री के गहने बिकवाकर आपने फीस नहीं ली।

मदन— यह तो मेरा कर्त्तव्य था।

रेखा— मैं ऐसे कर्त्तव्य को कुछ पुरस्कार देना चाहूँ, तो उसे मना न कीजिएगा।

मदन— वह क्या?

रेखा— दिन भर के परिश्रम से आप थक गए हैं, इसलिए आप के लिए जलपान!

मदन — **(हँस कर)** अच्छा, जलपान! लेकिन एक बात पर।

रेखा — वह क्या ?

मदन — उसके तैयार करने में माउंट एवरेस्ट पर विजय प्राप्त करने की कठिनाई न उठानी पड़े ?

रेखा — **(हँसते हुए)** आप प्रेम की आँखों से देखेंगे, तो कठिनाई कहाँ होगी ?

मदन — मैं क्या देखूँगा। अपनी ही प्रेम की आँखों से देख लेना।

[**दोनों की सम्मिलित हँसी**]

[परदा गिरता है]

— —

पृथ्वी का स्वर्ग

नाटक के पात्र

१ अचल - एक चित्रकार आयु २२ वर्ष ।
२ केशव - अचल का मित्र, आयु २४ वर्ष ।
३ दुलीचन्द सेठ, अचल का चाचा, आयु ५० वर्ष ।
४ मंगल - दुलीचन्द का नौकर, आयु ४० वर्ष ।
५ भिखारिन -आयु ३० वर्ष ।
६ बोझा ढोने वाला--आयु २४ वर्ष ।

स्थान—सेठ दुलीचन्द का बाहरी कमरा ।

समय--संध्या, ६ बजे ।

[कमरे में अचल और केशव बातें करते हुए आते हैं। इसी समय घड़ी में ६ बजते हैं।]

अचल — यह ६ बजे! सारा दिन यों ही बीता।

केशव — (**थके हुए स्वर से**) हाँ, दिन यों ही बीत गया और अभी न जाने कितने दिन बीतेंगे!

अचल — तुम तो इतनी निराशा की बातें करते हो, केशव! कभी न कभी तो मिलेगा ही।

केशव — मिल चुका! ज़माना बदल गया है, अचल! वह तेजी से भागता जा रहा है, अपनी ही धुन में! दुनियाँ बन गई है रेसकोर्स! और हर एक आदमी बन गया है घोड़ा। तेज़ भागने वाला घोड़ा!!

अचल — घोड़ा? (**हँसकर**) इस रेसकोर्स में गधे नहीं दौड़ते!

केशव — (**हँसी में हँसी मिलाकर**) गधे? यह ख़ूब कहा। गधे नहीं दौड़ते! अरे अचल! गधे दौड़ते नहीं हैं, बोझा ढोते हैं, बोझा!

अचल — ठीक है, लेकिन इस दुनियाँ के आदमी दौड़ते भी हैं, और बोझा भी ढोते हैं। घोड़े और गधे के बीच में आज का आदमी खड़ा है।

केशव — सचमुच आज का आदमी घोड़े और गधे के बीच की चीज़ बन गया है! (रुककर) तुम्हारे चाचा जी. . . दुकान में अभी नहीं आये, क्या?

अचल — शायद नहीं। आते तो इतना सन्नाटा न रहता। कभी इसको आवाज़ देते, कभी उसको। कभी यह करते, कभी वह करते।

केशव - हमेशा कुछ न कुछ करते ही रहते हैं, तुम्हारे चाचा जी! और वे क्या! सभी लोग कुछ न कुछ करते ही हैं।

अचल - हाँ! अजीबोगरीब है आज का आदमी! सब कुछ करता है, लेकिन अपने लिये! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि जिस तरह कीचड़ भरी जमीन पर चलते वक्त हर कदम पर जूता कीचड़ की तहें जमाता हुआ भारी बनता जाता है, उसी तरह यह आदमी भी हर कदम पर दुनियाँ अपने चारों ओर लपेटता चलता है। कीचड़ को वह दौलत समझता है, और अपने को इतना भारी बना लेता है कि चलना भी दुश्वार हो जाता है।

केशव -- क्या बात कही है, अचल! बिल्कुल यही बात है। दौलत का नशा इतना ज़बरदस्त है आदमी पर, कि वह इंसान को कुर्सी समझ कर उस पर बैठ जाता है। आज इंसान इंसान पर बैठा हुआ है। कहाँ है उसमें सहानुभूति, कहाँ है उसमें कोमलता, कहाँ वह भावना, कल्पना और वह सब कुछ, जिनसे तुम्हारा चित्र बनता है? यही वजह है कि आज दिन भर खोजने पर भी तुम्हारी चीज तुम्हें नहीं मिली। यों समझो, अचल! कि जिस तरह पतझड़ में पेड़ों के पत्ते झड़ जाते हैं न, उसी तरह आज के कवि और चित्रकार की सारी चीजें खत्म हो गई हैं। आज तो तेज और गरम हवा चल रही है। चाबुक जैसी मार से पत्ते खड़खड़ करते हुए इधर-उधर उड़ रहे हैं। तुम्हें याद है न, शैली की "ओड टु वेस्ट विंड" पोयम?

अचल— याद है! लेकिन उसमें एक भविष्यवाणी भी है कि इस पतझड़ के बाद वसन्त अवश्य आयेगा! मेरे हृदय का चित्रकार फिर से हराभरा होगा। उसमें भावनाओं से भरे चित्रों के फूल फिर से खिलेंगे।

केशव— ईश्वर करे इसी जन्म में खिलें! तुम्हारे चित्रों के लिये मन-चाहे रंग और आवश्यक चीजें मिलें! आज तो दिन भर खोजने पर तुम्हारा ब्रश नहीं मिला!

अचल— (**सोचता हुआ**) कई बार इच्छा होती है, केशव! कि मैं चित्र बनाना ही छोड़ दूं। चित्रकार के लिये न वातावरण है, न सामग्री! इच्छाएँ दिल में ही घुटकर रह जाती हैं। बहुत दिनों से सोच रहा हूँ कि एक चित्र बनाऊं।

केशव— कौन सा?

अचल— "पृथ्वी का स्वर्ग"। लेकिन इस पृथ्वी में स्वर्ग कहाँ है?

केशव— अरे! तो इसमें क्या कठिनाई है? कश्मीर का चित्र खींच दो। जहाँगीर बादशाह ने कश्मीर को देखकर एक बार कहा भी था:—

"अगर फिरदौस बर रूए जमीनस्त
हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त"।

अगर पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है, तो यही है, यही है, यही है। बस, अपने चित्र में कश्मीर का कोई सीन खींच लो!

अचल— (**सोचते हुए**) कश्मीर का?

केशव— और क्या! गुलमर्ग या पहलगाँव का कोई सीन ले लो! अगर कोई कठिनाई हो तो बाज़ार में कश्मीर के बहुत से फोटो मिलते हैं, कोई लेकर उसी में रंग भर दो। नीचे लिख दो, 'पृथ्वी का स्वर्ग!'

अचल— लेकिन मेरी पृथ्वी का स्वर्ग वहाँ नहीं है, केशव! मेरी पृथ्वी का स्वर्ग इस मनुष्य के जीवन में है। वह ठोस नहीं है, तरल है——जो मन्दाकिनी की तरह मानव के प्राणों में कल-

कल ध्वनि करना है। वह प्रेम में है, दया में है, सहानुभूति में है, जो आज के संसार में कल्पना की वस्तु बन गई है।

केशव (**व्यंग्य से**) अच्छा, तो आप कवि भी हैं?

अचल कवि और चित्रकार में भेद क्या है? कवि अपने स्वर में और चित्रकार अपनी रेखा में जीवन के सत्य और सौन्दर्य का राग भरता है। यही तो मैं अपने मनचाहे ब्रश की पतली लकीरों में खींचना चाहता था कि 'पृथ्वी का स्वर्ग' कहाँ है! स्वर्ग क्या है, और पृथ्वी क्या है और पृथ्वी के किस कोने में स्वर्ग है। इसी का रूप मैं अपने चित्र में उतारना चाहता था, केशव! यह बात तो. . . . . .

[**नेपथ्य में 'कम्बख्त कहीं का', 'गधा कहीं का', कहते हुए और हाँफते हुए सेठ दुलीचन्द का प्रवेश**]

दुलीचन्द (**खाँसते और हाँफते हुए**) कम्बख्त कहीं का! गधा कहीं का! दस आने लेगा। एक छोटा-सा सन्दूक! उसके उठाने के दस आने! समझा न, दस आने यानी चालीस पैसे—चालीस बरस की उमिर भी न होगी तेरी!

अचल चाचा जी आ गये।

केशव— नमस्ते, चाचा जी।

दुलीचन्द —(**न सुनते हुए**) चोर कहीं का! लूट मचाई है! जिसको देखो वही लूट-मार करना चाहता है। हम सब अन्धे हैं न! दस आने लेगा, दस रुपये नहीं? तेरे लिये मैंने खजाना इकट्ठा करके रख छोड़ा है!

अचल— कौन है, चाचा जी?

दुलीचन्द— अरे, वही बोझा ढोने वाला! जितने चोर और बदमाश हैं, सब बोझा ढोने वाले बन गये हैं। रात में चोरी का माल ढोते हैं, दिन में बोझा उठाते हैं। चाहते हैं कि दुनियाँ में जिसके

पास पैसा है, समझा न, वह उनके गोलक में चला जाय! कमीने कहीं के!

केशव यह तो ठीक है, चाचा जी! आप ही से ये लोग मानते हैं। आपने इन्हें खूब समझा है!

दुलीचन्द - जिन्दगी भर यही किया है कि और कुछ, समझा न! (**नेपथ्य में देखकर**) चला आ इधर! सीधे! (**अचल से**) अरे! वह पुराने घर का छप्पर है न? वह टूट रहा है। ठीक कराने में अभी कुछ दिन लगेंगे। बीच के कमरे में एक सन्दूक पड़ी थी। उठवा कर ले आया। यों मामूली कपड़ों की सन्दूक है, लेकिन कपड़े अपने ही तो हैं, समझा न? उस पर भी पैसा खर्च हुआ है, तो कपड़े क्यों बर्बाद हों! ऐं? (**ठहर कर**) साँस भर आई। (**खाँसता है, बाहर देखकर**) इधर ले आ! गधा कहीं का! किसी धोबी के यहाँ होता तो दिन भर ढोता और एक पैसा भी न मिलता! (**'एक' पर जोर देकर**) एक पैसा न मिलता। समझा न, इधर ले आ!

[**एक बोझे वाला सिर पर सन्दूक लेकर कराहता हुआ आता है।**]

दुलीचन्द देख, गिरा मत देना! सिर पर बोझा सम्हलता नहीं आता और दम आने लेगा! दम आने! समझा न! गिनती आगे नहीं आती, नहीं तो और ज्यादा माँगता, समझा न!

[**शान से कुर्सी पर बैठते हैं।**]

बोझावाला - (**केशव से हाँफता हुआ**) बाबू, तनी मदद कड़ दें।

दुलीचन्द - (**अकड़ कर**) हे! मदद कर दे! मदद करने के चार पैसे कटेंगे, समझा न?

केशव -- क्या बड़ा वज़न है? ले उतार, मैं इस तरफ थामे हूँ।

अचल - तुम रहने दो, केशव! मैं नौकर को बुलाता हूँ। (**पुकार कर**) अरे, मंगल!

[**नेपथ्य से मंगल का स्वर, 'आया सरकार!'**]

केशव — (**जोर से**) नहीं, आने की जरूरत नहीं है। (**धीरे से**) मैं उतरवा देता हूं!

दुलीचन्द — अब अगर यहां केशव न होता तो मैं उतरवाता? जोगर नहीं चलता तो बोझा ढोता क्यों है? लेकिन लालच तो खाये जाता है, समझा न?

केशव — (**बोझे वाले से**) अच्छा, ले उतार। मैं इस तरफ से थाम हूं।

[**बोझावाला 'ऊँह' करते हुए गहरी सांस लेकर सन्दूक उतारता है।**]

बोझावाला — हाय राम! मूड़ी टूट गवा!

दुलीचन्द — दवा के पैसे भी ले लो मुझसे। समझा न?

अचल — बहुत भारी है, क्या?

बोझावाला — जानै एहिमा ईंट-पाथर भरा बा।

दुलीचन्द — अबे, चार तमाचे मारूंगा खींच के! सिर फिर जायगा। मैं इसमें ईंट-पत्थर भरूंगा? गधे कहीं के! पुराने कपड़े हैं। कीड़ों से बचाने के लिये इसी सन्दूक में डाल दिए। तू कपड़ों को ईंट-पत्थर कहता है।

बोझावाला — सोना-चांदी होय, हजूर! यहि मा! हमका एहिसे का? हमका तो हमार मजूरी चाही।

दुलीचन्द — तो मजदूरी मांग। सोना-चांदी या पत्थर की बात क्या कहता है! पत्थर होगा तेरे दिमाग में।

अचल — चाचा जी! इसे मजदूरी दे दीजिये!

दुलीचन्द — तुम कहते हो, अचल! तो मैं दे देता हूं। समझा न? नहीं तो इसकी जबान-दराजी पर एक पैसा न देता। ले, यह चवन्नी।

बोझावाला — (**चवन्नी लेकर आँखें फाड़ कर**) चवन्नी? ई का है—हजूर! पहिले तो कहिन कि उठाय लै चलो। तुम्हार मेहनत समझ

लेयगे। अब हजूर चवन्नी दिखावत हैं। धइलें आपन पाग ई चवन्नी!

दुलीचन्द - जरा तमीज से बात कर, समझा न? इस कदर मार मारूंगा समझा न?

बोझावाला- काहे मार मारेंगे? कोनो जुरम किहिन है का? अबे-तबे किहे जात हैं। हम तो भल्ला मनई समझ के हजूर-हजूर कहिन ह मुदा ई. . . .

केशव - ए, बहस मत करो। ये बहुत बड़े आदमी हैं, जानता नहीं, सेठ दुलीचन्द का नाम नहीं सुना क्या? तेरे ऐसे हजार नौकर हैं इनके पास!

अचल -- (**बोझा ढोने वाले से**) खैर, यह बताओ, तुम कितना चाहते हो आखिर. . . .

बोझावाला हजूर! हम बारा आना कहिन औ ई, दुइ आना। हम आपन जाय लगे तो ई हजूर चार आना बढ़ाइन। हम दस आना कहिके जाय लागे तो ई कहिन कि तुम्हार मजदूरी समझ लेयँगे और वाजब दे देयँगे।

केशव--- अच्छा, आठ आने ले लो।

दुलीचन्द - (**बीच ही में**) नहीं, इसको चार आने से एक पैसा बेशी नहीं मिलेगा। समझा न?

बोझावाला---हजूर! कुछ न देयँ।

अचल --- अच्छा, ये छः आने और लो। (**पैसा देता है**) जाओ! देखो, आयन्दा जबान न लड़ाया करो।

बोझावाला---हजूर, सीधे बात करें तो हम ऐसने खिजमत करइ सकत है। मुदा अबे-तबे....

दुलीचन्द - (**उठकर**) अबे, मारता हूं चार तमाचे।

केशव — अच्छा, जाओ जी। चार की गिनती चाचा जी को बहुत पसन्द है।

झोंपड़ीवाला—हुज़ूर! गरीब है, भला आदमी है, हुज़ूर!

[**प्रस्थान**]

दुलीचन्द—(**व्यंग्य से**) आदमी है, जानवर से बदतर। समझा न?

अचल चाचा जी! आप थक गये हैं। ज़रा आराम कीजिये। (**ज़ोर से**) अरे मंगल! चाचा जी के लिये पानी लाना।

[**नेपथ्य में मंगल का स्वर—'अच्छा, सरकार!'**]

केशव पानी क्या शरबत मँगवाओ, चाचा जी बहुत थक गये हैं।

दुलीचन्द (**व्यंग्य से**) क्यों! क्या आप को भी शरबत पीना है? जनाब! शरबत में पैसे खर्च होते हैं, समझा न? जब पानी से काम चल सकता है, तब शरबत की जरूरत? तुम अपने बाप का पैसा यों ही बरबाद करोगे, मैं जानता हूँ। समझा न?

केशव चाचा जी! आपके आशीर्वाद से शरबत ही पीता हूँ। पानी की जगह पानी और शरबत की जगह शरबत। बाबूजी को खुशी होती है, जब मैं पैसे का अच्छा उपयोग करता हूँ।

दुलीचन्द—वाह रे, अच्छा उपयोग! एक दिन शराब पियोगे और कहोगे कि पैसे का मैं अच्छा उपयोग करता हूँ। समझा न? साँप टेढ़ा चले और कहे कि मेरी चाल सबसे अच्छी है, तो अजगर ही तारीफ़ करे, आदमी तो तारीफ़ करने से रहा।

अचल चाचा जी! केशव की बातें तो कालेज की डिबेटिंग सोसायटी के लिये हैं। आप उन पर और लोगों की तरह विचार न करें।

दुलीचन्द तो मेरा घर यह 'डुबोटिंग सोसैटी' समझता है, समझा न?

[**मंगल का पानी लेकर प्रवेश**]

केशव चाचा जी! पानी पी लीजिये। आप का गला सूख रहा है। (**मंगल से**) सुराही का है न?

दुलीचन्द—जाड़े में सुराही का? केशव! तेरा दिमाग तो नहीं फिर गया? बूढ़ों से हँसी करता है?

[**मंगल का गिलास लेकर प्रस्थान**]

केशव— चाचा जी! मैं आप को बूढ़ा हरगिज नहीं समझता। जो आप को बूढ़ा समझे, वह खुद बूढ़ा।

दुलीचन्द—तो फिर मुझसे हँसी क्यों करता है?

केशव— चाचा जी! मैं खुश रहना चाहता हूँ, और दूसरों को खुश देखना चाहता हूँ। मैं जिन्दगी को खेल समझता हूँ, कसरत नहीं।

दुलीचन्द—तो मैं कसरत समझता हूँ। सुना अचल! मैं कसरत समझता हूँ। समझा न? देखना, इस खेल में कहीं हाथ-पैर न टूट जायँ!

अचल— केशव दूसरे के हाथ-पैर तोड़ने की कोशिश में रहता है, चाचा जी! अपने हाथ-पैर साफ़ बचा लेता है।

दुलीचन्द— हाथ-पैर भले ही बचा ले, इम्तहान में उसका सिर न टूटे तो कहना!

केशव— चाचा जी, फर्स्ट डिविजन का डंडा सिर के पास आते ही तिलक की लकीर बन जाता है, मैं क्या करूं। अच्छा चाचा जी! अब आज्ञा दीजिये। (**अचल से**) अचल! अब मैं जा रहा हूँ।

अचल— थोड़ी देर और बैठो न, केशव!

दुलीचन्द— उसे जिन्दगी का और खेल खेलना है, जाने दो! (**केशव से**) केशव! फेल भर मत होना, समझा न? बेचारे बाप का पैसा बरबाद जायगा। तुम्हारा वक्त तो यों ही जाता है, पैसा न जाना चाहिये।

केशव— चाचा जी! वक्त नहीं आता, पैसा तो फिर भी आ जाता है। अच्छा नमस्ते। (**अचल से**) अचल! नमस्ते (**प्रस्थान**)

अचल— नमस्ते!

दुलीचन्द—अचल! तुम जानते हो कि केशव को मैं बिल्कुल पसन्द नहीं करता, फिर भी तुम उसे घर आने देते हो?

अचल— चाचा जी! केशव अच्छा लड़का है। मेरा मित्र है। हँसना उसका स्वभाव है। मुझे तो वह बहुत पसन्द है।

दुलीचन्द लेकिन मुझे यह पसन्द नहीं कि इसकी संगति में तुम फ़िज़ूलखर्च बन जाओ। शरबत मँगवाता है! ख़ुद ही न पीना चाहता था? इसका क्या जाता है, खर्च तो मेरा होता है!

अचल मैं समझता हूँ, चाचा जी! कि खर्च तो गंगाजी का प्रवाह है। जल तो बहता ही है, इसलिए खर्च होना भी ज़रूरी है। हाँ, बरसाती नदी की तरह खर्च नहीं होना चाहिये।

दुलीचन्द देखो, मुझसे बहस न किया करो, अचल! तुम तस्वीरें बनाते हो, तो समझते हो कि मेरे स्वभाव को भी तुम अपने जैसा बना लोगे?

अचल यों मैं नहीं कहता, चाचा जी! मैं तो अपने मन की बातें सच्चाई के साथ आपके सामने रख रहा हूँ।

दुलीचन्द लेकिन इस सच्चाई के साथ तुम्हें मेरा भी ख्याल रखना चाहिये! समझा न? और तुम रख सकते हो, यह मैं जानता हूँ। तभी तो मैंने भाई रामसरूप जी से कह दिया था कि अचल को मेरे पास भेज दो। घर में कोई लड़का नहीं है। तो अचल आके मेरे घर में खुश रहे। मेरी धन-दौलत को सम्हाले! समझा न?

अचल मैं तो आपका सेवक हूँ, चाचा जी!

दुलीचन्द सो तो मैं मानता हूँ, अचल! और कैसे न मानूँगा? अपना ही घर समझ के तो तुमने इस घर को सजाया है। समझा न? कमरे में एक से एक अच्छी तस्वीर। और कहीं लेने जाओ तो सौ-सौ रुपये में एक तस्वीर मिलेगी। तुममें तो ये सिफ़त है कि चार पैसे के खर्च में चार रुपये का माल तैयार करते हो! हा (**खुशामदी हँसी**)

अचल यह आपका आशीर्वाद है, चाचा जी।

दुलीचन्द आशीर्वाद तो हुई है, तुम तो अभी और अच्छी-अच्छी तस्वीरें बनाओगे, समझा न? (**स्मरण करते हुए**) हाँ, जो तुम एक नई तस्वीर बना रहे थे, वो बन गई?

अचल — अभी नहीं दवी, चाचा जी! आज दिन भर एक-एक दुकान में खोजा, मगर ब्रश नहीं मिला।

दुलीचन्द — अरे, अखबार में तो रोज छपता है कि ये ब्रश ठीक है, वह ठीक है।

अचल — (हँसकर) चाचा जी! वह तो दाँतों का ब्रश है। तस्वीर के लिए दूसरा ब्रश लगता है।

दुलीचन्द — अरे, यह मैं क्या जानूँ! मैंने कभी कोई तस्वीर थोड़े बनाई है। और अब बुढ़ापे में बनानी भी नहीं है। समझा न? अच्छा अब जाओ तुम. . . जाओ, आराम करो।

अचल — मैं क्या आराम करूँगा। हाँ, आप आराम कीजिये, आज आप बहुत थक गये हैं।

दुलीचन्द — अरे, मैं तो रोज ही थकता हूँ, अचल! कोई नई बात है? तुम जरूर आज ब्रश खरीदने के चक्कर में थक गये होगे। मेरा तो यह रोज़ का काम है! आराम करने से कहीं काम होता है? अगर मैं आराम करता तो आज सेठ दुलीचन्द की यह साख न होती। (ज़ोर देकर) हाँ! समझा न? सेठ दुलीचन्द का ये नाम न होता! लाखों का माल एक मिनट में ले सकता हूँ। समझा न? (गर्व की मुद्रा)

अचल — यह तो सभी जानते हैं, चाचा जी! अच्छा, यह सन्दूक यहीं रहेगा?

दुलीचन्द — (लापरवाही से) रखा लेंगे अन्दर। पुराने फटे कपड़े हैं। ऐसी क्या फिकर। कीड़े लग जाते, गरम कपड़े हैं न? एक आध दुशाला भी है। आजकल गरम कपड़े की कीमत! शिव-शिव! अरे पहले जितने में एक अच्छी गाय मिलती थी, गाय न? उतने रुपयों में उसकी पूछ बराबर कपड़ा! चार अँगुल! हाय रे, क्या ज़माना आ गया! अब कुछ दिनों में गरम कपड़ा किराये पर मिलेगा, किराये पर!

अचल सच है, चाचा जी! बुरा ज़माना आ गया है!

दुलीचन्द हाँ, तो पहले सोचा कि दर्जी से कह दूंगा कि उसमें से कुछ अच्छे कपड़े निकालकर अचल के काम के लायक चीज़ें बना दो, समझा न! और यह भी सोचा कि आजकल जाड़े के दिन हैं, गरीबों को दे दूंगा। एं! जिन्दगी में कुछ दान-पुण्य भी करना चाहिये!

अचल बहुत अच्छा सोचा, चाचा जी! आपने। गरीबों को ही दीजिये, अभी मेरे पास कपड़े हैं।

दुलीचन्द खैर! जैसा तुम कहोगे, वैसा ही होगा! लेकिन भाई रामसरूप जी बुरा न मानें, कि बेटे को इतने दिनों घर रखा और एक कपड़ा भी न बनवाया! एं! एक कपड़ा भी न बनवाया! समझा न?

अचल वे इन बातों का नहीं सोचते, चाचा जी! और मैं भी तो घर ही का लड़का हूँ। जैसे उनका लड़का, वैसे आपका!

दुलीचन्द तुम बहुत अच्छे बेटे हो, अचल! समझा न? बस इतनी बात है, कि उस बेवकूफ़ केशव को तुम बुलाते हो। मुझे अच्छा नहीं लगता! समझा न? खैर! बुला लो उसे, लेकिन जब मैं बाहर रहूँ। अच्छा, अब तुम जाओ। जाओ, अपनी तस्वीर बनाओ।

अचल - अच्छी बात है। मंगल को भेज दूँ?

दुलीचन्द **(सोचते हुए)** मंगल को? एं, एं, अच्छा। नहीं. . . . नहीं, मैं बुला लूँगा, बुला लूँगा मैं। समझा न? तुम जाओ!

अचल - बहुत अच्छा! **(प्रस्थान)**

[अचल के जाने के बाद थोड़ी देर तक दुलीचन्द 'केशव मुरारी', 'केशव मुरारी' गुनगुनाता है। फिर दरवाजे तक जाकर देखता है। कहता है—"कोई नहीं! गया! सीधा लड़का है। समझा न? अब जरा देख लूं।"]

शीघ्रता से उठता है और सन्दूक खोलता है। ऊपर का हरा दुशाला निकालने के बाद नोटों के बण्डल निकालता है। उन्हें गिनता है। एक बंडल हाथ में लेकर—'एक हजार... दो हजार, चार हजार पाँच सौ और...और...यह पाँच सौ, पाँच हजार। कुल पाँच हजार। पाँच हजार न ? एं ...चार हजार पाँच सौ...और ये...पाँचसौ, हां...ठीक... ठीक...पाँच हजार...कम्बख्त इनकमटैक्स वालों की वजह से बैंक में जमा भी नहीं कर सकता। पाँच हजार...और कुछ तो नहीं है ?'

[इतने में किसी के आने का खटका होता है। 'एं...एं...' कहता हुआ शीघ्रता से नोट समेटने की कोशिश करता है। शीघ्रता से बोल उठता है—'एं, एं, जरा वहीं रहना, वहीं रहना....मैं....मैं कपड़े बदल रहा हूँ....मैं जरा कपड़े बदल रहा हूँ।']

[शीघ्रता में उसी हरे दुशाले मे नोट समेट कर तह मे अन्दर तक सरका कर सन्दूक में बन्द करता है। फिर ताला बन्द कर कुर्सी पर बैठता है।]

दुलीचन्द—(संतोष की सांस लेकर) अच्छा! समझा न? कौन अचल? अंदर आ जाओ, अचल! अब मैं कपड़े बदल चुका! बदल चुका!

[धीरे-धीरे मंगल का प्रवेश]

दुलीचन्द—एं, मंगल! तुम हो। (बनावटी हँसी हँसते हुए) हं, हं, हं! मैं जरा कपड़े बदल रहा था। शाम को रास्ते में बड़ी धूल थी समझा न? कपड़े धूल से भर गये थे...हाँ...क्या बात है?

मंगल—सरकार! हाथ मुह-धोने के लिए पानी गरम हो गया है।

दुलीचन्द—अच्छा..अच्छा..तुम बहुत अच्छे आदमी हो! बहुत अच्छे.. और..हाँ...अचल कहाँ है? (मंगल पैर दबाने बैठ जाता है)

मंगल — सरकार ! यहाँ से उठकर तो वो भीतरी कमरे में चले गये हैं। और अपनी तस्वीर बना रहे हैं। सरकार ! अचल बाबू बहुत सीधा आदमी है। हाय, हाय, जैसे बिल्कुल साधु-संन्यासी ! आज के जमाने के लड़कों की तरह वो 'सिगरेट' भी नहीं पीते। कपड़े भी आप की तरह सीधे-सादे पहनते हैं। आप की तरह पैसे भी ज्यादा खर्च नहीं ....

दुलीचन्द — (भौंहें सिकोड़ कर) हैं .. हैं क्या कहता है कि.....

मंगल — (सम्हलकर) नहीं, नहीं, सरकार ! मतलब ये है सरकार ! कि जैसे जरूरी कामों में आप पैसा खर्च करते हैं न, वैसे वो भी जरूरी कामों में ही पैसा खर्च करते हैं। (खुशामद के स्वर में) है न सरकार ! बिल्कुल आप की तरह सन्त-महात्मा है, सरकार !

दुलीचन्द — ठीक है, ठीक है ! इस शहर में सेठ दुलीचन्द इस बात के लिए मशहूर है, समझा न ? कि पैसा किस तरह खर्च करना चाहिए ?

मंगल — सो तो ठीक है ..सरकार ! सदा सरकार ! अचल बाबू में एक बात है कि दीन-दुखियों को देख के, उनका दिल गंगा-जल की तरह हो जाता है। वाह ! क्या कहना है, सरकार ! किसी का दुःख-दर्द वो देख नहीं सकते !

दुलीचन्द — (अन्यमनस्कता से) हाँ, ठीक है। दीन-दुखियों की मदद करनी चाहिए ! अच्छा, तो मैं हाथ-मुँह धो लूँ !

मंगल — हाँ, सरकार ! पानी गरम है। अचल बाबू ने पहले ही हुकुम करा था कि सरकार आ गये हैं। उनके हाथ-मुँह धोने के लिए पानी गरम हो जाय।

दुलीचन्द — हाँ, अचल मेरा बहुत ध्यान रखता है ! बहुत अच्छा लड़का है ! समझा न ? मगर तस्वीरें बनाता है, अगर रोजगार करता तो कितना अच्छा होता ! समझा न ? खैर, सिखला दूँगा, धीरे-धीरे सब सीख जायगा ! मेरा कहना बहुत मानता

है, समझा न ? अच्छा !...अच्छा !! तुम जाओ....मैं अभी आता हूँ !

[**मंगल जाता है**]

दुलीचन्द (**पुकार कर**) देखो . सुनो !...(**मंगल लौट कर आता है**)

मंगल--- हुक्म, सरकार !

दुलीचन्द देखो ..तुम जा रहे हो.. अच्छा जाओ, जाओ.. हाँ...अपने अचल बाबू को मेरे पास भेजते जाना ...समझा न ?

मंगल - बहुत अच्छा, सरकार ! (**प्रस्थान**)

दुलीचन्द (**सोचते हुए**) मंगल कहता है कि दीन-दुखियों को देख के... समझा न ? अचल का दिल गंगा-जल की तरह हो जाता है। जैसे मेरा दिल कुछ नहीं होता ! अरे, मेरा दिल तो तिरबेनी की तरह हो जाता है, तिरबेनी की तरह...मुझे कोई खुश भर कर ले, फिर तिरबेनी नहाय ! खूब नहाय ! समझा न ? अचल मुझसे भी आगे बढ़ जाय ? नहीं...नहीं बढ़ सकता। उसी से पूछूँगा...आता होगा... (**रुककर**) ऐं !...उसके आने के पहले देख लूँ...सन्दूक का ताला ठीक तरह से बन्द है ?

(**उठकर संदूक का ताला देखता है। खींचकर जोर लगाता है।**) हाँ, ठीक है बिल्कुल ठीक है।

| **अचल का प्रवेश** |

अचल चाचा जी ! आपने मुझे बुलाया ?

दुलीचन्द (**सन्दूक के पास से जल्दी उठकर**) हूँ, हूँ, अचल ! आ गये तुम ? यों ही सन्दूक देख रहा था, पुराने गरम कपड़े हैं, ठीक है... ठीक है, समझा न ? तुम्हारे काम आ सकते हैं ! नीचे के एक-आध कपड़े को कीड़ों ने खाया है, बाकी सब ठीक है। हूँ, हूँ, हूँ, दुशाला भी ठीक है ! तुम्हें पसन्द आये तो तुम्हीं काम में लाना... !

अचल आपकी जैसी आज्ञा होगी, वैसा ही होगा, चाचा जी !

दुलीचन्द - तुम बहुत अच्छे लड़के हो, अचल ! मंगल भी तुम्हारी बड़ी तारीफ कर रहा था। अभी आया था। पहले मैं समझा कि तुम आये हो. . हँ. हं. . .तुम ! समझा न ! बाद में निकला मंगल मनहूस। पर तुम्हारी बड़ी तारीफ कर रहा था। कहता था, तुम दीन-दुखियों का दरद नहीं देख सकते. . .ए. . .नहीं देख सकते . . ?

अचल (**लज्जा के स्वरों में**) चाचा जी ! वह तो यों ही बकता है। कभी इसकी तारीफ, कभी उसकी तारीफ। हाँ, तो किसलिए आपने मुझे याद किया ? क्या सन्दूक की सफ़ाई करनी है ?

दुलीचन्द - नहीं-नहीं बेटा ! इतने छोटे काम के लिए तुम्हें तकलीफ दूंगा ! नहीं ! हरगिज नहीं ! और सफाई भी क्या ? पुराने कपड़े हैं। मैं देख ही चुका। समझा न ? एक-आध अंगरखा, एक-आध दुशाला। बस, यही। कोई नुमायशी चीजें थोड़े ही हैं। समझा न ? पुराने घर में पड़ी थीं. . . इधर उठवा ले आया। पुराने सड़े कपड़े ! तुम्हारी तस्वीर की तरह नये थोड़े ही हैं ? हूँ . . . हूँ . . तुम्हारी तस्वीर बन गई ?

अचल - अभी पूरी नहीं हुई, चाचा जी !

दुलीचन्द - किसकी तस्वीर है ? लच्छमी जी की होगी !

अचल - नहीं, चाचा जी ! लक्ष्मी जी की तस्वीरें बहुत बन चुकी हैं। और अब तो हर काले बाजार में उनके मन्दिर पर मन्दिर बन रहे हैं। जो तस्वीर मैं बनाना चाहता हूं, वह दूसरे तरह की है।

दुलीचन्द किस तरह की ? जरा सुनूं।

अचल - वह है नये किस्म की। उसका नाम होगा '**पृथ्वी का स्वर्ग !**'

दुलीचन्द - (**अट्टहास करके**) पृथ्वी....ई का स्वर्ग ! ह, ह, ह, ह, ह ! पृथ्वी का स्वर्ग ? (**हँसता है**) अरे, पृथ्वी में स्वर्ग कहाँ !

समझा न ? पृथ्वी में स्वर्ग कैसे आ सकता है ? गरीब लोगों की नीयत खराब हो गई है। अब तुम्हीं देखो...वो बोझा ढोने वाला! किस तरह आँखें निकाल के बातें करता था। जैसे खा जायगा! समझा न? जैसे हमें खा जायगा! मैं चार आने दे रहा था, एक बक्स उठाने के लिए! क्या था? पिछले जमाने में यह काम मुफ्त में होता था, बहुत हुआ तो दो पैसे तमाखू पीने के लिए दे दिये....बस समझा न? और इस जमाने में चार आने दे रहा था.. चार आने! फिर भी वो आखें फाड़ कर खाने को दौड़ता था! कहता था (**विकृत स्वर से**) हमका न हमार मजूरी चाही! ऐसी नीयत खराब है तो (**सांस लेकर**) ओफ-ओह! पृथ्वी में स्वर्ग होगा? अरे स्वर्ग तो स्वर्ग है, इस दुनिया पर स्वर्ग होने लगे तो दुनिया काहे की? .एं.... फिर दुनिया काहे की ?

(**सांस छोड़कर**) छोड़ो... छोड़ो इन बातों को, इनमें क्या धरा है? समझा न? दुनियाँ अपने रास्ते चलेगी और स्वर्ग अपने रास्ते! दोनों अलग—बिल्कुल अलग...तो कुछ बना ?

अचल— अभी तक तो नहीं बन सका है, चाचा जी! लेकिन बना के रहूँगा।

दुलीचन्द अरे, क्या बनाओगे, बेटा! सीधे-सादे हो—भोले-भाले हो! समझा न? जाने क्या-क्या सोच लेते हो! लेकिन खैर..... बनाओ। बच्चा खिलौने से खेलता है, तुम तस्वीरों से खेलो! खेलो....कुछ आना-जाना थोड़े ही है! समझा न?

अचल — तो फिर मैं जाऊँ ?

दुलीचन्द— अच्छा, बेटा! जाओ। एं? नहीं, नहीं, रुको! बात ये है कि ...कि ये सन्दूक यहाँ पड़ी है। समझा न? यों इस सन्दूक में कुछ है नहीं; यही, एक-आध दुशाला....एक-आध अंगरखा।

लेकिन सन्दूक तो सन्दूक है। रास्ते का मकान! आते-जाते किसी की नजर पड़ जाय, समझा न? चुपके से खिसका ले? अगर इसे अन्दर ले जाऊं तो फिर एक मजदूर बुलाऊं! चार आने के दस आने मांगे। समझा न?

अचल तो मैं अन्दर कर दूं इसे? मंगल को भी बुला लूं!

दुलीचन्द सो तो होइ सकता है, समझा न? पर इसे कहां रखना है! यह भी तो सोचना है।

अचल अरे, पुराने कपड़ों की सन्दूक है, कहीं भी रखा दी जायगी!

दुलीचन्द अरे, भाई! तुम तो सीधे आदमी हो! समझते नहीं! अरे, भाई! सन्दूक तो सन्दूक है। लोग शक की निगाह से यों ही देखते हैं। सेठ दुलीचन्द की सन्दूक! जाने इसमें कितने हजार का माल होगा! समझा न? फिर वो बोझा वाला भी देख गया है, सिर पर उठा के लाया है। दस आदमियों से कहेगा कि सेठ दुलीचन्द की सन्दूक बहुत भारी है। समझा न? आज के जमाने मे लोग यों ही ताक लगाये बैठे रहते हैं। समझा न? तो इस सन्दूक को देखकर ठीक जगह रखानी पड़ेगी, नहीं तो पुराने घर में ही क्या बुरी थी! समझा न?

अचल तो फिर कहां रखी जाय?

दुलीचन्द अभी-अभी तो यहीं रहने दो। मैं हाथ-मुंह धो लूं, समझा न? जरा लच्छमी जी को फूल चढ़ा दूं! तब तक तुम यहीं बैठो! न हो तो यहीं अपनी तस्वीर बनाओ! जरा निश्चिन्त हो जाऊं, समझा न? फिर देख के रखा देंगे सन्दूक।

अचल - बहुत अच्छा, तो मैं अपनी तस्वीर का सामान यहीं ले आऊं?

दुलीचन्द वाह, वाह! तुम बहुत होशियार बेटे हो! यहीं ले आओ! समझा न?

अचल - अच्छी बात है। मैं आया। **(अन्दर जाता है।)**

दुलीचन्द ठीक इन्तजाम हो गया, समझा न! **(अन्दर आवाज देता है।)**

अरे, मंगल! जरा पीढ़ा रखना। मैं आ रहा हूं, समझा न? बाल्टी में पानी गरम रहे! बस अभी आया! (**कुछ धीरे अपने आप**) बहुत धूल से भर गया हूं! आज की म्युनिसिपालिटी भी क्या है, धूल . . . धूल. . . . धूल. . . छिड़काव तो कभी होता नहीं, गोया पानी मोल बिकता है, मोल! . . . समझा न? अरे हाँ, (**पुकार कर**) और तौलिया भी रख देना . मंगल! (**अपने आप**) अंगरखे में भी धूल! (**झाड़ता है।**) सोने की धूल होती तो क्या बात थी!

(**अचल का प्रवेश**) तुम आ गये अचल! बहुत अच्छा! समझा न? तस्वीर का सामान भी ले आए? अच्छा है। अब यहीं बैठ कर तस्वीर बनाओ। ऐसी तस्वीर बनाओ कि दुनिया के लोग कहें, समझा न? कि सेठ दुलीचन्द का भतीजा तस्वीर खींचने में बिल्कुल रामसूर्ति है . . हाँ. . समझा न? मैं उठता हूं। ये अंगरखा यहीं रख दूं . ऐं . हां . धूल बहुत भरी है . . (**अचल से**) अचल! ये अंगरखा यहीं रख देता हूं। (**अंगरखा उतारता है।**) अब चलता हूं। (**पुकार कर**) मंगल! मैं आ रहा हूं। (**अपने आप बड़बड़ाते हुए**). . बुढ़ापे का तन भी क्या है! पैर रखता कहीं हूं . पड़ता कहीं है! (**अचल से**) अचल बेटा! तुम बैठना। मैं अभी दस-पन्द्रह मिनट में आता हूं, अभी आता हूं! समझा न? जय हरी. . . . जय हरी! (**प्रस्थान-भीतर से ही**) अरे अचल! वहीं बैठना! समझा न? मैं अभी आता हूं! चल रे, मंगल! लोटे में पानी भर दे . . . . जय हरी. . जय हरी. . . . !

अचल- (**आप ही आप**) वाह, चाचा जी! बुढ़ापे में हाथ-पैर ढीले हो जाते हैं तो ज़बान मजबूत हो जाती है। . . . हाथ पैर कम चलते हैं तो ज़बान ज्यादा.... (**सोचता है।**) क्या चित्र बनाऊँ? बूढ़े आदमियों के हाथ-पैर की तरह मेरा ब्रश भी नहीं चलता!

(**अपने आप हँसता है**) चित्र पूरा करने की कोशिश करूँ ! (**अपने चित्र को देखता है**) यह पृथ्वी है, इसमें जो आग की लपट है . . .यह आग की लपट है. . .यह आग की लपट. . . वह किस तरफ से उठे ? इस तरफ से . . ? (**सोचता है**) नहीं. . .नहीं. . .(**फिर सोचता है**)यह लपट. . .यह लपट. . .!

[**नेपथ्य से पास ही किसी स्त्री की सिसकियों की आवाज। उस ओर ध्यान देते हुए**) एक लपट तो इस ओर से आ रही है ! खिड़की से देखूँ। (**खिड़की के पास जाकर देखता है**) स्त्री है ! बाल बिखरे . . हाथ में बच्चा है . मरा. . या. . . जिन्दा। (**जोर से पुकारता है।**)अरे. . .सुनो. . इधर आओ ! (**स्त्री ने अचल को देख लिया है। अपने प्रति सहानुभूति करने वाले को पाकर वह और जोर से चीख पड़ती है।**]

अचल (**अस्थिर होकर**) मंगल तो चाचा जी के हाथ-पैर धुला रहा होगा। अच्छा, मैं ही देखता हूँ। (**खिड़की के पास फिर जाकर**) हाँ, ठीक है। इसी रास्ते . . इसी रास्ते चली आओ। हाँ. . .हाँ . . .इसी रास्ते. . .आओ।

[**भिखारिन सिसकियाँ लेते हुए आगे बढ़ती है।**]

अचल हाय रे, संसार ! तुझ में कौन-सा दुख नहीं है ! चारों ओर चीत्कार, चारों ओर हाहाकार. . . .तुझ में स्वर्ग कैसे बन सकता है ? कैसे बन सकता है ! यह कवि की कोरी कल्पना है. . . कल्पना ही है !

[**भिखारिन का सिसकियाँ लेते हुए प्रवेश**]

अचल हाँ, आओ. . .आओ. . .तुम कौन हो ? क्या बात है ? तुम रोती क्यों हो ? ऐं, तुम्हें क्या दुःख है ?

[**भिखारिन कुछ नहीं बोलती। वह सिसकियाँ भरती रहती है**]

अचल— बोलो न, बहिन! तुम्हें क्या दुःख है? यह बच्चा तुम्हारा ज़िन्दा है? ज़िन्दा है न?

भिखारिन—(**सिसकते हुए**) जिन्दा है, पर मरने जा रहा है! (**सिसकियां**) मेरा लाल! हाय! मै इसे जिन्दा नहीं रख सकती! यह मर जायेगा। कल मैं इसका मुंह नहीं देख सकूंगी...नहीं देख सकूगी। (**सिसकियां**)

अचल— इस तरह मत घबराओ, बहिन! साफ-साफ बतलाओ। बात क्या है। तुम्हारा बच्चा नही मरेगा...नहीं मरेगा।

भिखारिन—मैंने न जाने पूरव जनम में कौन से पाप किये है कि अपने बच्चे के लिये डायन बन रही हूँ! इसके बाप को तो खा लिया, अब इसे खाने जा रही हूँ। (**सिसकियां**)

अचल— ऐसी बात मत कहो, बहिन! क्या तुम्हारा बच्चा बीमार है?

भिखारिन—मैं मर जाऊँ तो यह अच्छा हो जाय। मेरे ही भाग ने आग लगा रक्खी है! मेरा बच्चा सुबह तक हँसता रहा। दोपहर के बाद (**सिसकियां**) मैंने इसे दूध पिलाया! वही इसे ज़हर हो गया! (**भरे हुए गले से**) जहर हो गया! इसका सिर तप रहा है!

अचल— तो, उसकी दवा करो। यह लो रुपया! (**रुपया उसके पास फेंकता है।**) यहाँ से पास ही एक अच्छे वैद्य रहते हैं, उनसे दवा ले लो! तुम्हारा बच्चा ज़रूर अच्छा हो जायगा।

भिखारिन—बाबू! तुम देवता हो! तुम्हारी दया से मेरा बच्चा जरूर अच्छा हो जायगा। भगवान तुम्हारी जय करें। (**कुछ सोचकर**) मगर इसे मैं रात की ठंड से कैसे बचाऊँगी! (**सिसकियां**) मेरे पास तो तन ढकने को छोड़ दूसरा कपड़ा नहीं है, बाबू! और ठंड से यह कैसे बचेगा!

अचल— अच्छा, ठहरो बहिन! मैं तुम्हें कपड़ा भी दूंगा। गरम कपड़ा, यह लो, मेरा कोट ले जाओ...(**कोट उतारता है, ठहर कर**)

एँ, इससे क्या काम चलेगा! अच्छा! तुम्हें एक दुशाला दूंगा इसी सन्दूक में है। चाचा जी आज ही आये हैं। इसमें से निकाल दूंगा! (**सन्दूक के पास जाता है। रुक कर**) एँ...? ताला बन्द है। (**भिखारिन से**) ठहरो बहिन! चाचा जी मुंह-हाथ धो रहे हैं। उनके आते ही, अभी तुम्हें दुशाला देता हूँ। सन्दूक में एक दुशाला भी है, पर ताला बन्द है!

भिखारिन मेरे भाग में ही ताला पड़ा है, बाबू! तो सन्दूक में ताला क्यों न हो!

अचल- (**सहसा**) अरे ठहरो . ठहरो, बहिन! चाचा जी का अँगरखा यहीं है। जेब में चाभी होगी। (**अँगरखे की जेब देखता है।**) यह रही, अभी निकाल कर देता हूँ!

[**शीघ्रता से सन्दूक खोलता है, ऊपर ही हरा दुशाला रखा है। उसकी तहें न खोल कर वैसे ही निकाल कर उसे भिखारिन की तरफ उछाल देता है।**]

भिखारिन- बाबू! जुग-जुग जिएं! बाबू का बच्चा जुग-जुग जिये!

अचल - यह सब कुछ नहीं, जाओ। इस दुशाले से बच्चे को ठीक तरह से ढक लो। उसे ठंड नहीं लगेगी!

भिखारिन- भगवान जनम-जनम आप को बड़ा आदमी बनाएं! आप लाख बरिस जीएँ, बाबू! अब मेरा बच्चा बच जायगा! बाबू! जुग-जुग जिएँ! मेरा बच्चा बच जायगा! (**प्रस्थान**)

अचल - (**दुहराकर**) बच्चा बच जायगा! ईश्वर करे, बच्चा बच जाय!

[**नेपथ्य से दुलीचन्द की आवाज**]

अँगरखे में मेरी चाबी रह गई। अचल! समझा न? मेरी चाबी रह गई।

[**दुलीचन्द का प्रवेश**]

दुलीचन्द---अँगरखे में मेरी चाबी रह गई! समझा न? मैं लक्ष्मीजी की पूजा करने जा रहा था कि...(**खुली हुई सन्दूक पर उसकी**

नजर जाती है। सहसा घबड़ा कर) अयँ! यह क्या! यह सन्दूक किसने...किसने...किसने खोली? अरे.. (**अचल को झकझोर कर**) यह सन्दूक किसने खोल...डाली?

अचल— मैं..मैंने...खोली, चाचा जी!

दुलीचन्द— अरे...तो..तो...मैं..एक मिनट को गया...और...और... तूने खोल डाली। (**झपट कर सन्दूक के पास जाता है। कपड़े तितर-बितर करते हुए**) अरे, इसका हरा..हरा..हरा... दुशाला कहाँ गया! अरे, मेरा हरा दुशाला (**रोते हुए स्वर में**) मेरा हरा दुशाला...

अचल— हरा दुशाला! वह मैंने एक भिखारिन को दे दिया!...

दुलीचन्द—(**रुदन के स्वर में**) भिखारिन को दे दिया? कहाँ है वह भिखारिन? (**दरवाजे की ओर झपट कर**) कहाँ है, भिखारिन? गायब हो गयी। (**खिड़की के पास दौड़ता है।**) इस खिड़की से भी नहीं दीख रही है! हाय! बाप रे! मैं लुट गया! मैं लुट गया! मेरा हरा दुशाला! (**रोते हुए**) समझा न? मेरा हरा दुशाला (**सिसकता है**) भिखारिन को...दे..दी..या!

अचल— चाचा जी! माफ़ कीजिये!

दुलीचन्द—तेरी माफ़ी गई भाड़ में! बुला उस भिखारिन को। हाय! (**रोता है**)

अचल— मुझे क्या पता कि वह भिखारिन कहाँ गई, और मैं नहीं जानता था कि वह हरा दुशाला आप को इतना प्यारा है! आप ही ने तो कहा था कि पुराने कपड़े हैं और तुम्हारे लिए...

दुलीचन्द—तेरे बाप के लिये, गधे...नालायक...बड़ा सीधा बनता है? समझा न? अरे देना था तो कोई दूसरा कपड़ा दे देता? वही दिया, हरा दुशाला! हाय! दुनियाँ भर मुझे लूटने के लिये जुटी है!

अचल— भिखारिन का बच्चा मर रहा था, चाचा जी!

दुलीचन्द—(**चीखकर**) अरे, कल मरने को हो तो आज मर जाय ! और साथ-साथ तू भी मर जा ! (**रोते हुए**) हाय ! मेरा हरा दुशाला . . .

अचल— वह तो पुराना दुशाला था, कीड़ों से बचाने के लिए. . .

दुलीचन्द—(**रोते हुए**) कीड़ों से बचाने के लिये, लेकिन तुझ जैसे मकोड़े ने तो उसे खा लिया ! हाय रे ! मै तो लुट गया ! (**रोता हुआ**) लुट गया !

अचल— तो मै जाता हूँ, भिखारिन को खोजता हूँ।

दुलीचन्द—जा भाग और भिखारिन से छीन ले।

अचल— लेकिन दी हुई चीज़ मै वापस नहीं ले सकता, चाचा जी !

दुलीचन्द— बड़ा बाप का बेटा कही का ! यहाँ मै लुट गया, और यह दी हुई चीज़ वापस नहीं लेता ! (**पुकार कर**) अरे, मंगल ! अरे, मंगल ! अरे, दौड़ ! अचल मुझे मारे डाल रहा है। हाय ! हाय ! मार डाला !

अचल— मै खुद यहाँ से चला जाता हूँ। यह हरा दुशाला न हुआ, हज़ारों की दौलत हो गई !

दुलीचन्द—(**झुंझलाकर**) हाँ, हाँ, हो गई ! तू क्या जाने ! तूने उसे देखा नहीं ?

अचल— देखा क्यों नहीं ! वह तह किया हुआ ऊपर ही रखा था। वैसे ही उछालकर दे दिया भिखारिन को।

दुलीचन्द—(**व्यंग्य से रोने के स्वर में**) उछालकर दे दिया भिखारिन को ! यहाँ मेरी टोपी उछाल दो और कहता है. . .

[**मंगल का प्रवेश। दौड़ता हुआ आता है।**]

दुलीचन्द— अबे, तू कहाँ मर गया था ! मैं. . .मै. . .तुझे. . .

मंगल— सरकार ! पूजा के लिये अगरबत्ती लेने चला गया था।

दुलीचन्द—मशाल लेने नही चला गया ! लगा दे तू भी घर में आग ! हाय ! मैं लुट गया ! लुट गया. . .समझा न. . . !

मंगल— (**घबराकर**) लुट गया...क्या हो गया, सरकार?

दुलीचन्द—उस भिखारिन को पकड़...जा...जल्दी!

मंगल— किस भिखारिन को, सरकार?

दुलीचन्द— अबे, बाहर देख! उस भिखारिन ने मुझे भिखारी बना दिया! समझा न? और पूछता है किस भिखारिन को।

मंगल— (**अचल से**) कौन भिखारिन, अचल बाबू?

दुलीचन्द— अचल बाबू की नानी! देख कोई भिखारिन है? उसी के इश्क में इसने हरा दुशाला...

अचल— (**तीव्रता से**) चाचा जी!

दुलीचन्द— मुझे भिखारी बना के अब मुझसे लड़ता है! वह भिखारिन जाने कहाँ...हाय...हाय...मैं लुट गया!

[**भिखारिन का प्रवेश**]

दुलीचन्द— (**चौंककर**) ये भिखारिन आ गई...आ गई!

भिखारिन—(**भरे हुए गले से**) यह मैं नहीं लूँगी, बाबूजी, नहीं लूँगी! यह पाप है। इस दुशाले के भीतर ये नोट रखे हैं! मैं इन्हें नहीं लूँगी, बाबूजी!

[**नोट के बण्डल जमीन पर डाल देती है। दुलीचन्द झपट कर नोट समेटने लगता है**]

दुलीचन्द—ये हैं मेरे रुपये...ये हैं मेरे नोट...ये हजार...दो हजार...पांच सौ...चार हजार पांच सौ...पांच हजार...हाँ...पूरे हैं...! मेरे नोट पूरे हैं...समझा न!

भिखारिन—बच्चे को उढ़ाने के लिये दुशाला खोला तो ये नोट नीचे गिर पड़े। ये रुपये लेना पाप है, बाबूजी! किसी पाप से इस बच्चे के बाप नहीं रहे, इन रुपयों से यह बच्चा भी न रहता! ऐसा दान मैं नहीं चाहती, बाबूजी!

मंगल— तो तू ले के क्यों भागी इन रुपयों को!

भिखारिन— दुशाले के अन्दर लिपटे थे . मैं क्या जानूं कि इसमें रुपये हैं। दूध तो जहर नहीं हुआ, ये रुपये जरूर जहर हो जाते !

(बच्चा रोने लगता है !) चुप रह बच्चे. . .चुप रह. . . अब तू अच्छा हो गया. . .पहले तो बेहोश-सा पड़ा था. . .अब तू बच जायगा ! **(अचल से)** बाबू ! यह दुशाला भी रख लीजिये . . यह भी नहीं लूंगी ।

अचल - दुशाला मैंने तुझे दे दिया, बहन ! . . .अब उसे नहीं लूंगा !

दुलीचन्द - ठीक है, ठीक है. . .अचल उसे नहीं लेगा. . .और. . .और मैं तुझे आठ आना पैसा और भी दे सकता हूँ, आठ आना, समझा न ?

[बोझे वाला आता है।]

बोझेवाला- हजूर ई चवन्नी जो आप हमका दीन रहे—ई खोटी है।

दुलीचन्द-- **(बोझे वाले को झिड़कता हुआ)** अबे भाग, शोर न कर। मैं यहां लुटा जा रहा था. . .इसके लिये चवन्नी खोटी है। यहाँ मैं बाल-बाल बच रहा हूँ, ये कहता है—**(मुंह बनाकर)** ई चवन्नी खोटी है ! भाग यहां से, नहीं तो मारता हूँ चार तमाचे. . .

अचल - **(बोझेवाले से)** बोझे वाले ! तुम अभी ठहरो !

दुलीचन्द **(भिखारिन से)** हां, तो रुपये लौटाने के बदले मैं तुम्हें आठ आने देता हूँ ! समझा न ?

भिखारिन -मुझे कुछ नहीं चाहिये, बाबूजी ! अपने बेटे को आँचल में ही छिपा लूंगी। मेरा फटा आँचल ही उसका दुशाला है।

[सहसा केशव का प्रवेश]

केशव **(नेपथ्य से बोलता हुआ आता है।)** अचल ! तुम्हारा ब्रश मिल गया! मिल गया ! उससे तुम पृथ्वी का स्वर्ग खींच सकते हो। **(भिखारिन और अन्य तीन व्यक्तियों को देखकर)** अयँ, यह क्या ?

अचल— (**दृढ़ स्वर में**) '**पृथ्वी का स्वर्ग**' यही है केशव ! इस भिखारिन में, जो अपने आप रुपये देने चली आयी ! यही 'पृथ्वी का स्वर्ग' है ! यही '**पृथ्वी का स्वर्ग**' है, जो कागज़ पर नहीं खिंच सकता। सच्चाई और पाप से घृणा....यही तो स्वर्ग है ! (**ज़ोर से**) मैंने '**पृथ्वी का स्वर्ग**' देख लिया ! अब मैं इस घर से जाता हूँ ! चाचा जी नमस्ते।.......(**भिखारिन से**) चलो, बहिन ! (**केशव से**) चलो केशव......(**प्रस्थान। पीछे-पीछे भिखारिन और केशव भी जाते हैं।**)

दुलीचन्द—अरे अचल ! सुन तो...ये पाँच हज़ार मिल गए....अब मैं तुमसे नाराज नहीं हूँ...समझा न ?

अचल— (**नेपथ्य से**) यही "**पृथ्वी का स्वर्ग**" है, केशव ! यही "**पृथ्वी का स्वर्ग**" है !

[**परदा गिरता है।**]

राजरानी सीता

नाटक के पात्र

स्त्री-पात्र

१ **राजरानी सीता**—महाराजा राम की पत्नी
२ **मन्दोदरी**—राजा रावण की पत्नी
३ **विचित्रा**
४ **सौदामिनी**
५ **चित्रा**
६ **सुलेखा**
७ **त्रिजटा**

(३–७) राजा रावण की दासियां

पुरुष-पात्र

१ हनुमान—महाराजा राम के दूत
२ **रावण**—लंका का अधिपति

स्थान—अशोक वाटिका

[अशोक वृक्ष के नीचे महारानी सीता शोकमग्न मुद्रा में बैठी हुई हैं। उनके समीप दासी विचित्रा बैठी है। नेपथ्य में शंखों और घंटों की ध्वनि हो रही है। आज रावण ने एक बहुत बड़ा महोत्सव भगवान् शंकर के मंदिर में किया है। धीरे-धीरे यह ध्वनि क्षीण होती है और फिर सम्मिलित स्वर में सुनाई पड़ता है:—महादेव शंकर की जय.....! भगवान् त्रिपुरारी की जय! महाराजाधिराज रावण की जय.....! यह ध्वनि धीरे-धीरे मंद होती हुई वायु में विलीन हो जाती है। ऐसा ज्ञात होता है जैसे जय ध्वनि करनेवाले मंदिर से बाहर जा रहे हैं। जय-ध्वनि के वायु में विलीन होते महारानी सीता के कंठ से एक गहरी सिसकी निकल पड़ती है।]

विचित्रा— महारानी, आज महादेव शंकर के मंदिर में महाराजाधिराज रावण ने दसवाँ उत्सव मनाया है। आपने राजाधिराज रावण की जय नहीं बोली ?

[महारानी सीता फिर सिसकी भरती हैं और सिसकी भरते हुए करुण शब्दों में कहती हैं—]

महा.....राजाधिराज......रघुवीर की. ..जय !

विचित्रा— महाराजाधिराज रघुवीर की जय ! अब भी आपने महाराजाधिराज रघुवीर की जय कहना नही छोड़ा ? आज दस मास बीत गये। आपको पाने के लिए महाराज ने भगवान् शंकर के मंदिर में उत्सव किये, आपने दस बार क्या एक बार भी महाराज रावण की जय नहीं कही !

सीता— कपटमृग के पीछे महाराज रघुवीर जिस प्रकार धनुष-बाण लेकर दौड़े थे—भौहें कसी हुई थी, नेत्र कुछ लाल हो रहे थे, दृष्टि स्थिर थी, नीचे का होंठ दाँतों से दबा हुआ था, मुख पर कुछ पसीने के विन्दु झलक रहे थे, ऐसे श्री रघुवीर की शोभा की—ऐसे श्रीरघवीर की जय ! एकबार नही—दस बार जय !

विचित्रा— आप जानती है, इस हठ का परिणाम क्या होगा ?

सीता— मैं उस परिणाम के लिए व्याकुल हूँ, बहिन ! यदि शरीर से श्री रघुवीर के दर्शन न कर सकू तो प्राण में ही उनके समीप पहुँच सकू ँ! महाराज से जाकर कौन कहे कि तुम अभी तक नहीं आये और सीता तुम्हारे विरह से... (**सिसकियां**)

[तीन दासियों का प्रवेश। उनका नाम क्रमशः सौदामिनी चित्रा और सुलेखा है।]

सौद मिनी—महारानी, महाराज रावण इधर आ रहे है। विचित्रा, तू बाहर जाकर महाराज का स्वागत कर।

विचित्रा— बहुत अच्छा ! (**प्रस्थान**)

चित्रा— (**महारानी सीता से**) महारानी, आप सिसकियाँ क्यों भर रही हे ? आज तो उत्सव का दिन है। महाराजा रावण ने आज भगवान शंकर की पूजा कर स्वयं वेद-पाठ किया है।

सुलेखा— और पूजा करने के पूर्व महाराज ने आज्ञा की थी कि आज महारानी सीता का श्रृंगार हो।

सीता— जिसके हृदय में रघुवीर हैं, उसके शृंगार की आवश्यकता नहीं है।

सौदामिनी—रघुवीर का स्मरण करते हुए आप थकती नही ! आज आप इस काम को भूल जायँ। इस समय महाराज रावण का नाम सब से ऊँचा है। ओफ्, आज महाराज की कितनी भव्य मूर्ति थी—मस्तक पर त्रिपुड, भौहों में कितनी कमनीयता, जैसे यज्ञ के धुएँ की काली रेखाएँ हों। नेत्र यज्ञ के धुएँ से कुछ-कुछ लाल थे। हाथ में चन्द्रहास तलवार थी। क्यों चित्रा ?

चित्रा— और जब उन्होंने चन्द्रहास से अपना मस्तक काट कर भगवान् शंकर के सामने अर्पण किया तो उनके कटे हुए सिर के मुख पर कितनी मधुर मुसकान थी !

सुलेखा— और चित्रा, कितने आश्चर्य से हम लोगों ने देखा कि कटे हुए मस्तक के नीचे से दूसरा सिर फिर से महाराज के गले पर सुसज्जित हो गया है, यह प्रताप भगवान् शंकर का है। क्यों सौदामिनी ?

सौदामिनी—महाराज की भक्ति का नहीं है ? वे कितने बड़े भक्त हैं, यह तो सारा संसार जानता है। जब उन्होंने एक बार शंभु सहित सफेद कैलास पर्वत उठाया, तो ऐसा मालूम हुआ जैसे आकाश-रूपी नीले सरोवर में महाराज के हाथरूपी कमल पर हंस शोभायमान हो रहा है। बिना ऊँची भक्ति के भला कोई भक्त भगवान् शंभु को कैलास पर्वत सहित उठा सकता है ?

चित्रा— यह तो महाराज का बल है, सौदामिनी ! महाराज की शक्ति और शूरवीरता तो इतनी अधिक है कि जब उन्होंने अपने हाथ से अपना सिर काट कर अग्नि में होम किया तो ब्रह्मा के लिखे हुए मस्तक के लेख महाराज ने अपने नवीन मुख से पढ़े। उनमें लिखा हुआ था कि तुम्हारी मृत्यु नर के हाथों से होगी। महाराज अट्टहास कर उठे। कहने लगे—बूढ़े

ब्रह्मा की बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई है। जब शक्ति-शाली देवता भी मेरे वश में हैं, तो नर की शक्ति ही कितनी कि वह मेरे सामने खड़ा हो सके?

सौदामिनी—महारानी सीता! ऐसे शक्ति-शाली महाराज की बात स्वीकार करने में तुम्हें संकोच है?

सीता बड़े से बड़ा जुगनू भी चन्द्रमा की समानता नहीं कर सकता (**तीव्र स्वर में**) मैं महाराज रघुवीर के अतिरिक्त किसी का नाम नहीं सुनना चाहती।

सुलेखा महारानी सावधान! ऐसा हठ मैंने जीवन में पहली बार देखा। देवकन्या, यक्षकन्या, गंधर्वकन्या, नरकन्या, नागकन्या ऐसी कितनी ही सुन्दरियों ने महाराज के बाहु-बल पर मोहित होकर आत्म-समर्पण कर दिया किन्तु आपने...

सीता - (**सोचते हुए धीरे-धीरे**) इनमें कोई विदेहकन्या नहीं रही?

[**नेपथ्य से महाराज रावण की जय का घोष**]

सुलेखा - महारानी सीता! महाराज की आज्ञानुसार आप अपना शृंगार करें। महाराज आने ही वाले हैं।

सीता-- क्या महारानी मन्दोदरी के शृंगार से तुम्हारे महाराज रावण को संतोष नहीं हुआ? अपनी महारानी के शृंगार को छोड़ कर जो दृष्टि पर-नारी के शृंगार की ओर जाती है, वह दृष्टि तुम्हारे महाराज ने आग में होम नहीं की? (**करुण स्वर में**) बेचारी मन्दोदरी...

[**नेपथ्य में फिर महाराजाधिराज रावण की जय। रावण के साथ महादेवी मन्दोदरी और दासी त्रिजटा आती हैं। रावण का प्रवेश करते ही अट्टहास**]

सौदामिनी— राजाधिराज और महादेवी की सेवा में प्रणाम स्वीकृत हो!

चित्रा — राजाधिराज और महादेवी की सेवा में प्रणाम स्वीकृत हो!

सुलेखा— राजाधिराज और महादेवी की सेवा में प्रणाम स्वीकृत हो!

रावण— राजाधिराज की सेवा में तुम्हारा अनुराग रहे। संवत्सरों तक तुम राजाधिराज और महादेवी की सेवा करती रहो। तुम्हारी महारानी सीता का शृंगार हुआ? (**देखकर**) नहीं हुआ। सौदामिनी! यह शृंगार क्यों नहीं हुआ? चित्रा! तुमने महारानी को सुसज्जित क्यों नहीं किया? सुलेखा! तुमने पुष्पों की मालाओं और मोतियों से महारानी के केश क्यों नहीं सजाये?

सौदामिनी—(**नम्रता से**) महारानी की इच्छा नहीं थी।

रावण— (**दुहराते हुए**) महारानी की इच्छा नहीं थी। (**सोचकर**) हाँ, महारानी की इच्छा सर्वोपरि है। त्रैलोक्य-सुन्दरी महारानी सीता की इच्छा का आदर होना चाहिए। अच्छा, जाओ। तुम लोग महारानी सीता को प्रणाम कर यहाँ से जाओ!

(**सम्मिलित स्वर में**) महारानी सीता को प्रणाम।

[**सीता कुछ उत्तर नहीं देती, दासियों का प्रस्थान**]

रावण— प्रणाम का उत्तर नहीं दिया महारानी सीता ने? (**अट्टहास**) ठीक है। त्रैलोक्य की शोभा का शृंगार और कहाँ तुच्छ दासियाँ? प्रणाम का उत्तर भी कैसे हो सकता है? हाँ, अगर महादेवी मन्दोदरी प्रणाम करें तो संभवतः उत्तर मिले। (**मन्दोदरी की ओर देखकर**) महादेवी मन्दोदरी!

मन्दोदरी—महारानी सीता को मन्दोदरी का प्रणाम।

सीता— प्रभु अनाथों पर कृपा करें।

[**रावण मुक्त अट्टहास करता है।**]

रावण— यह निष्ठा देखी? महादेवी मन्दोदरी! एक तपस्वी के प्रति यह निष्ठा! संसार में किसी नारी के पास ऐसी निष्ठा नहीं। मैं इसी निष्ठा से प्रभावित हूँ, महारानी सीता! किन्तु यह निष्ठा शृंगार के साथ नहीं है। आज तो शृंगार होना चाहिए था। आज के पुण्य पर्व में देवाधिदेव शंकर स्वयं आये थे। महादेवी मन्दोदरी! तुमने भगवान् शंकर की छवि देखी थी?

मन्दोदरी—मैं तो आपकी और भगवान् शंकर की छवि में कुछ देर तक अन्तर भी नहीं देख सकी। यदि उनके हाथ में त्रिशूल और आपके हाथ में चन्द्रहास न होता तो दोनों का स्वरूप एक ही था।

[**रावण अट्टहास करता है।**]

रावण— ठीक है, भक्त और भगवान् में एकरूपता तो होनी ही चाहिए। किन्तु आज उनकी मुद्रा कुछ उदास थी। संभवतः इसलिए कि महारानी सीता ने शृंगार नहीं किया। (**सीता जी से**) महारानी! आपकी मलिनता का क्षोभ देवाधिदेव शंकर को भी होता है। आप को आज शृंगार करना चाहिए।

[**सीता सिसकियां भरती हैं**]

रावण— ये आँसू...! ये आँसू आपके सौन्दर्य के अनुरूप नहीं हैं, महारानी सीता! और आपके सिर पर केशों की एक ही वेणी, यह मैली सारी, ये भूमि पर गडे हुए नेत्र, यह उदासी! जैसे चन्द्र के साथ अंधकार हो। क्यों महादेवी ? चन्द्र के साथ अन्धकार कैसे निवास करता है ?

मन्दोदरी—चन्द्र के साथ नहीं, चन्द्र के भीतर अन्धकार निवास करता है, महाराज!

रावण— वह अंधकार नहीं है, महादेवी! वह तो मेरा आतंक है जो चन्द्रमा सदैव अपने हृदय पर लिये फिरता है। संसार के लोग उसे कलंक कहते हैं। किन्तु वह चन्द्र के हृदय में राजाधिराज रावण का भय है, आतंक है। इस समय जाने दो इन बातों को। मुझे तो इन नेत्रों से त्रैलोक्य के सौन्दर्य को देखना है, महारानी सीता...! (**सीता मौन रहती है।**) आज सौन्दर्य में वाणी नहीं है, पुष्प में सुगंध नहीं है, चन्द्रमा में किरण नहीं है। मैंने सारे भूमंडल का पर्यटन किया, स्वर्ग के देवताओं को जीता, पातालपुरी के नागों को आधीन किया, किन्तु ऐसा दिव्य सौन्दर्य

नहीं देखा! मैं समझता था कि मेरी महादेवी ही सौन्दर्य की स्वामिनी हैं।

मन्दोदरी—महाराज! आप मुझे व्यर्थ आदर दे रहे हैं।

रावण— तब महादेवी, तुम भी यह स्वीकार करती हो कि महारानी सीता तुमसे अधिक सुदरी है?

मन्दोदरी—मैं इसे स्वीकार करती हूँ, महाराज!

रावण— तब तो महादेवी, तुम्हें महारानी की सेवा करनी चाहिए। सुनिए महारानी सीता, यदि आप एक बार भी मुझ पर कृपालु हो जावें तो मैं महादेवी मन्दोदरी से लेकर सभी रानियों को आपकी अनुचरी बना दूँगा। बोलिए, आप महादेवी मन्दोदरी की सेवा स्वीकार करेंगी?

सीता— महादेवी मन्दोदरी, मैं आप से केवल एक तृण चहती हूँ।

रावण— तृण? केवल तृण? क्यों? किसलिए? महादेवी, इन्हें एक सोने का तृण लाकर दो। महारानी उससे अपनी स्वीकृति लिखेंगी, साथ ही काले पत्थर की एक कसौटी भी। कसौटी पर वह स्वर्णरेखा जैसे अंधकार पर सूर्य की किरण के समान होगी। वही महारानी की कृपा की स्वीकृति होगी?

सीता— नहीं महादेवी, मैं केवल भूमि का तृण चाहती हूँ।

रावण— यह किसलिए?

मन्दोदरी—मैं जानती हूँ महाराज, किसलिए। क्या महारानी सीता की इच्छा पूरी की जाय?

रावण— उनकी इच्छा सर्वोपरि है। तृण को वे मेरे सामने रख कर ही बातें करें। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं!

मन्दोदरी—(**तृण तोड़कर देती है।**) यह लीजिए!

सीता— (**तृण लेते हुए**) धन्यवाद, महादेवी!

रावण— महारानी, मैं अपने प्रस्ताव की स्वीकृति चाहता हूँ। मैं कब से महादेवी मन्दोदरी को आपकी सेवा में नियोजित कर दूं?

सीता— एक स्त्री का अपमान करने के पश्चात् दूसरी स्त्री के अपमान करने का प्रस्ताव। इस मूर्खता के संबंध में मैं क्या कहूँ! क्या वेद पाठ करनेवाले पण्डित के ज्ञान की यह विडंबना नहीं है?

रावण— महारानी मीता! (**तीव्र स्वर से**) महाराज रावण का अपमान करने की शक्ति किमी में नहीं है।

सीता— किस रावण का अपमान? उस रावण का, जो प्रभु के दूर चले जाने पर सूने आश्रम से मुझे हरण कर लाया है? उस रावण का जो संन्यासी का वेश रखकर आया और चोर बन कर गया? उस रावण का जो भिक्षा माँग कर संसार के समस्त भिक्षुकों को लज्जित कर गया? आज वही रावण अपने अपमान की बात कर रहा है? उस रावण ने भिक्षुकों तक का अपमान किया है!

मन्दोदरी महारानी सीता, शान्त हों!

रावण— महादेवी मन्दोदरी! तुम रावण को शान्त नहीं करतीं? आज पिछले दस महीनों से वह तिल-तिल कर जल रहा है! उसने देवाधिदेव शंकर के दस महोत्सव किये है, दस बार प्रार्थनाएँ की हैं कि महारानी सीता मुझ पर अनुकूल हों, किन्तु न शंकर ने स्वीकृति दी और न महारानी सीता ने ही। मैंने दस महीनों से कबेर की भेंट स्वीकार नहीं की, ब्रह्मा के कंठ से वेद-पाठ नहीं सुना, सूर्य को सभा में नहीं आने दिया, चन्द्रमा की अमृत-वाणी नहीं सुनी। सारे वैभव छोड़ दिये! एक-मात्र इसलिए कि महारानी सीता एक बार कृपापूर्वक मेरी ओर मुख करें। किन्तु आज तक मैं इस सुख से बंचित रहा। मैं कितना अशान्त हूँ, यह अग्नि की लपटों से पूछो, लंका की सीमा पर गर्जन करते हुए सागर से पूछो! इसे तुम नहीं जान सकतीं, महादेवी!

मन्दोदरी—जानती हूँ, महाराज! किन्तु यदि आप की इच्छा पर सारे

वैभव आपको छोड़ दें, ब्रह्मा, कुबेर, सूर्य और चन्द्र आपके दर्शन का वरदान न पावें, तो इसमें उनका क्या दोष ? दोष तो आपकी इच्छा का है !

रावण— तुम भी सीता से सहानुभूति रखती हो, महादेवी ? मेरे प्रताप की ओर से आँख बंद कर सीता को भी निर्भीक और निडर बनाती हो ?

सीता— प्रभु के बल से कौन निर्भीक और निडर नहीं है ? उनके प्रताप के सामने तुम्हारा प्रताप क्या है ? क्या जुगनुओं का प्रकाश कभी सूर्य के प्रकाश की समानता कर सकता है और उस प्रकाश से क्या कभी कमलिनी खिल सकती है ? ऐसे व्यक्ति का प्रताप—

रावण— (**अट्टहास करते हुए**) मेरा प्रताप! महारानी सीता ! जिसके पुत्र ने सुरेश्वर इन्द्र को जीत कर इन्द्रजीत का नाम और यश पाया है उसके प्रताप के सम्बन्ध में आपको शंका है ? महादेवी, समझाओ सीता को कि मैं क्या हूँ! त्रैलोक्य में मेरी शक्ति से लड़ने का साहस किसमें हो सकता है ! जिसके हृदय में दंडी, मुंडी और जटाधारी ही निवास करते हैं उस निर्गुणी.........

सीता— (**बीच ही में**) चुप रह दुष्ट ! तुझे लज्जा नहीं आती कि मुझे एकान्त में पाकर हरण करता है और अपनी शक्ति का आडंबर मुझे दिखलाना चाहता है ? अन्यायी भी कहीं शक्तिशाली हो सकता है ? पापी भी कहीं भक्त हो सकता है ? कायर भी कहीं शूरवीर हो सकता है ? जिसने सारी लज्जा खो दी है वह अपने सम्मान की बात किस मुख से कह सकता है ? जिसके सामने संन्यासी, चोर, भिक्षुक और कायर में अन्तर नहीं है, वह रावण....वह रावण प्रभु से...

रावण— (**बीच में चिल्लाकर**) सीते..... !

सीता— (**मन्दोदरी से**) महादेवी! आज मुझे जीवन के अंतिम क्षण दीख रहे हैं। आप यहाँ से चली जावें तो अच्छा है!

मन्दोदरी—(**रावण से**) महाराज! नारी पर बल-प्रयोग करना अन्याय है।

रावण— महादेवी! मैं तुमसे नीति की शिक्षा नहीं ले रहा हूँ। रावण भगवान् शंकर को छोड़कर किसी को अपना गुरु नहीं मानता। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम यहाँ से जा सकती हो।

मन्दोदरी—मैं महाराज को अन्याय करने से रोकूँगी।

रावण— (**तीव्रता से**) मुझे न्याय या अन्याय करने से कौन रोक सकता है?

सीता— प्रभु के बाण! जब वे तेरे सिरों को काटकर भगवान् के निषंग में प्रवेश करेंगे तो महात्मा लक्ष्मण उनसे पूछेंगे कि अन्यायी के रक्त का स्वाद कैसा है? तब वे बाण....।

रावण— (**बीच ही में क्रोध से**) बाण नहीं, यह कृपाण! देखो, यह चन्द्रहास! (**तलवार निकालता है।**) मेरा अपमान करनेवाले के शरीर में यही चन्द्रहास एक क्षण में चमककर मेरे सम्मान का आदर्श त्रैलोक्य में स्थापित करता है। यह चन्द्रहास! देखती हो! इसने कितने अपराधियों के सिर काटकर सारे ब्रह्माण्ड में बिखरा दिये हैं। सिरों की तरह असंख्य तारों को बिखराकर दूज का चन्द्र चन्द्रहास का अभिनय करता है! देखो! इस तारों भरी रात को और इस चन्द्रहास को! मेरी भौहों के संकेत पर न चलनेवाले को चन्द्रहास की धार पर चलना पड़ता है।

सीता— (**गहरी साँस लेकर**) चन्द्रहास! श्याम कमलों की माला के समान प्रभु की भुजा! मेरे कंठ की यही शोभा है। या तो प्रभु की भुजा हो या यह चन्द्रहास हो! चन्द्रहास! चन्द्र का शीतल हास! प्रभु के विरह में उठी हुई ज्वाला को तू

क्यों नहीं शान्त कर देता ? तेरी धार कितनी शीतल है, कितनी तीक्ष्ण है ! मेरे इस दुःख को दूर कर दे ! तू अभी तक मृत्यु का दूत है, मेरे लिए जीवन का देवदूत बन जा !

रावण— (**चिल्लाकर**) तब तैयार हो ! चन्द्रहास ! तुझे भी ऐसा शरीर न मिला होगा, तैयार हो ! वायु को काटता हुआ आकाश में चन्द्रमा की तरह उठ जा और उल्कापात की तरह इस शरीर पर गिर . . . . . .

मन्दोदरी—(**बीच में उठकर और विह्वल होकर**) महाराज ! महाराज ! यह नहीं हो सकता ! पुरुष नारी का इस प्रकार बध करे ! यह नहीं हो सकता ! यह अन्याय है ! यह नहीं हो सकता ! पहले मेरा बध कीजिए....मेरा वध....मेरा वध.... !

सीता— (**दुःख से**) महादेवी, यह क्या...... !

मन्दोदरी—(**शीघ्रता से**) नहीं, नहीं, महारानी सीता ! (**रावण से**) महाराज, पहले मेरा वध कीजिए। यह अन्याय मैं अपने सामने नहीं होने दूँगी। मैं आपको पाप में नहीं पड़ने दूँगी !

रावण— (**जोरों से साँस लेता हुआ स्वगत**) अरे, यह क्या ! भगवान् शंकर की भी स्वीकृति नहीं ! मेरा त्रिपुंड गीला हो गया ! उस त्रिपुंड पर भगवान् शंकर के आँसू गिर पड़े। प्रभु, प्रभु...., मेरे शत्रु पर तुम्हारी इतनी करुणा क्यों ? तुम्हारी इतनी अनुकम्पा क्यों ? तुम कैसे मेरे भगवान् हो ! भक्त की इच्छा के प्रतिकूल ! तुम्हारी तो कभी ऐसी बान नहीं थी ! प्रभु शंकर ! मुझे बल दो कि मैं शत्रु से लड़ सकूं ! चन्द्रहास से न सही तो अपनी नीति से ही लड़ सकूं। जिस प्रकार तुम मेरे सभी कार्यों में सहायक हो उस प्रकार इस कार्य में क्यों नहीं होते ? लेकिन मैं लड़ूंगा। (**प्रकट**) महादेवी मन्दोदरी! तुम्हारे कहने से मै इस मास भी सीता को छोड़ता हूँ। एक मास क्षमा की अवधि और रहे। मैं ग्यारहवाँ महोत्सव मना-

ऊँगा। ग्यारहों रुद्र उसके साक्षी होंगे और यदि उस उत्सव पर सीता ने मेरा कहना नहीं माना तो फिर यही चन्द्रहास... ! यही चन्द्रहास होगा और उसके सामने होगी सीता! ...सीता...! यही सीता! जो मेरे आराध्य देव द्वारा भी बचाई जा रही है। कहाँ हो शंकर! आज तुम्हारा भक्त अपमानित हो गया। **(शीघ्रता से बाहर जाता है। बाहर जाते-जाते शब्द धीमे होते जाते है।)** इस अपमान का बदला...रावण के अपमान...का.....बदला. . . .

मन्दोदरी—मैं भी जा रही हूँ, महारानी सीता! पतिदेव रुष्ट हो गये! यह त्रिजटा दासी तुम्हारे समीप रहेगी।

(मन्दोदरी जाती है और फिर सीता एक बार सिसकी भरती है)

सीता— **(चिन्तित स्वरों में)** एक मास और. . .ग्यारहवाँ उत्सव! . . . ग्यारह रुद्रों की साक्षी! . . . क्यों नहीं आज ही उस दुष्ट ने मुझे इस विरह-दुःख से मुक्त कर दिया! एक मास और. . . कैसे सहूँ! प्रभु के विरह में एक एकदिन युग के समान बीत रहा है, उस पर अभी एक मास की लंबी अवधि और है! **(सिसकी लेकर)** प्रभु, अब मैं जीवित नहीं रहूँगी। मैं जीवित नहीं रहना चाहती। तुम्हारी होकर तुमसे इतनी दूर हूँ, एक-एक क्षण मुझे चन्द्रहास की धार से भी अधिक तीक्ष्ण ज्ञात होता है। हाय! मेरा जीवन नष्ट क्यों नहीं हो जाता? मेरे ही कारण मेरे प्रभु को व्यंग सुनने पड़ते है। मेरे ही कारण संसार देख रहा है कि मैं प्रभु की हूँ और प्रभु अभी तक नहीं आये! मैं कितनी अभागिनी....**(सिसकियाँ)**

त्रिजटा— महारानी, आप दुःख न करें! आपकी सेवा के लिए मैं तैयार हूँ। मैं त्रिजटा हूँ। आपकी आज्ञाकारिणी सेविका—

सीता— **(विह्वल होकर)** त्रिजटा, तुम मेरी सेवा करोगी तो यही सेवा

करो कि लकड़ियाँ लाकर मेरे लिए चिता बना दो और उसमें आग लगा दो ! अब प्रभु का यह विरह मुझे सहन नहीं होता ! प्रभु के विरह की ज्वाला से चिता की ज्वाला शीतल होगी ! मैं कहाँ तक दुष्ट रावण के दुर्वचन सुनूं ! मैं प्रभु के शत्रु को अपनी आँखों के सामने कैसे देखूं ? मेरे प्रेम को सार्थक करो और मुझे चिता में जल जाने दो ! मैं अपने हृदय की वेदना कैसे कहूँ ?

त्रिजटा— महारानी ! आप इतनी दुखी क्यों होती हैं ? प्रभु राम आपका उद्धार अवश्य करेंगे।

सीता— (**चौंककर**) क्या कहा ? फिर से कहो, देवी ! फिर से कहो— प्रभु. . .प्रभु. . .

त्रिजटा— हाँ, हाँ, प्रभु राम आपका उद्धार अवश्य करेंगे ! आपने ही तो कहा था कि प्रभु के बाण. . . . .

सीता— (**विह्वल होकर**) हाँ ! कहती जाओ, देवि ! कहती जाओ ! . . .मैं प्रभु की बात सुनना चाहती हूँ।

त्रिजटा— यही तो आपने कहा था कि भगवान् राम के बाण जब रावण के सिरों को काट कर भगवान् के निषंग में प्रवेश करेंगे तो महात्मा लक्ष्मण उनसे पूछेंगे कि अन्यायी के रक्त का स्वाद कैसा है ?

सीता— किन्तु यह कब होगा, देवि त्रिजटा !

त्रिजटा— भगवान राम की कृपा होने में विलंब नहीं लगता !

सीता— सच है देवि ! किन्तु यदि एक मास से अधिक विलंब हुआ तो दुष्ट रावण मुझे मार डालेगा और मैं प्रभु के दर्शन भी न कर पाऊँगी, इससे अच्छा तो यही है कि तुम मुझे अभी ही चिता में जल जाने दो !

त्रिजटा— यह सम्भव नहीं है, महारानी ! फिर रात आधी से अधिक

व्यतीत हो गई है। अब किसके घर आग मिलेगी ? सभी लोग भोजन कर सो रहे होंगे !

सीता— (**आह भरकर**) आह ! यह भी सम्भव नहीं ! फिर सहूँ प्रतिदिन की तीक्ष्ण बातें रात-दिन, दिन रात। . . . .

त्रिजटा— देवि सीता ! आप धैर्य रक्खें ! मैंने एक स्वप्न देखा है कि आपका उद्धार होगा।

सीता— देवि, आपके वचनों से मुझे धैर्य मिलता है, क्योंकि आप भी प्रभु के चरणों में प्रेम रखती है !

त्रिजटा— मैं किस योग्य हूँ महारानी, कि प्रभु राम के चरणों में प्रेम कर सकूं ! यदि मेरे सिर की जटाओं में आजन्म राम नाम की —राम के नाम के अक्षरों की—र अ और म की—रेखाएँ बनी रहें, तो इससे बड़ा सौभाग्य मेरा क्या होगा ?

सीता— मेरी विपत्ति की सहायिका देवी, तुम धन्य हो !

त्रिजटा— धन्य तो मैं तब होऊँगी जब महारानी ! आपका उद्धार हो जायगा और मुझे विश्वास है कि दुर्भाग्य के बादल प्रभु की कृपा की किरणों को नही रोक सकते !

सीता— तुम्हारा विश्वास अमर रहे !

त्रिजटा— अच्छा महारानी, अब आप विश्राम कीजिए। रात थोड़ी ही रह गई है। अब मैं जाऊँगी। आप सो जाइए।

सीता— मैं क्या सोऊँगी ! मेरी शय्या पर तो दुर्भाग्य ने काँटे बिछा दिये हैं, किन्तु तुम जाओ ! तुम सोओ !

त्रिजटा— प्रणाम करती हूँ, महारानी !

सीता— प्रभु अनाथों पर कृपा करें।

[**त्रिजटा का प्रस्थान**]

सीता— (**गहरी सांस लेकर**) यह सहायिका भी चली गई ! विधाता मेरे कितने प्रतिकूल हैं ! माँगने से आग भी नहीं मिलती, जिससे मैं चिता में जल जाऊँ ! मेरे हृदय की आग ही बाहर

निकल आये तो मैं अपने को धन्य समझूं। मै अपना शरीर जलाना चाहती हूँ किन्तु मन ही जलकर रह जाता है। (**कुछ देर ठहरकर**) रात आधी से अधिक बीत चुकी है! सब लोग मो रहे हैं। साँसों के आने-जाने का शब्द मुनाई पड़ रहा है। ...मै क्या करूँ! भगवान् न जाने कहाँ होंगे! किस वक्ष के नीचे बैठ कर मेरे विरह में दुःखी होते होंगे। कंचन मृग का चर्म लाने का आग्रह करने से पहले मैंने उन्हें माला गूथ कर पहनाई थी, वह इस समय भी उनके गले में पड़ी होगी, उसके फूल मेरी ही तरह मुरझा गए होंगे। किन्तु वे फूल मुझसे अधिक भाग्यशाली है, क्योंकि मुरझाने पर वे प्रभु के हृदय मे लगे हुए है और मै यहीं मुरझाई हुई दुप्ट रावण की अशोक वाटिका में हूँ। (**सिसकी भरती है।**) प्रभु, मझे क्षमा करो! मंने कंचन मृग का चर्म ही क्यों मांगा? तुमने मग की ओर देखकर अपना परिकर बाँधा, हाथ में धनुष सँभाल कर तीक्ष्ण बाण की नोक को गहरी दृप्टि से परखा। बाण की ओर देखते हुए तुमने लक्ष्मण को रक्षा का भार सौंपा और तीव्र गति से कंचन मृग के पीछे दौड़ पड़े...! संसार जिनके पीछे दौड़ता है वे मेरे प्रभु कंचन मग के पीछे दौड़े! मेरे कारण...! ओह प्रभु, तुम कैसे हो और मैं कैसी हूँ! आज मेरा कष्ट कंचन मृग बन जाता और तुम उसके पीछे दौड़ते! यह कष्ट मै कैसे सहूँ! लक्ष्मण, तुम्हारा कुछ दोष नहीं। तुम कुटी से चले गये। मझे क्षमा करो। प्रभु को समझा दो कि सारा दोप सीता का है। इसीलिए आज मेरे समीप कोई नहीं है। (**पेड़ के पत्तों के हिलने का शब्द**) वायु वहकर निकल जाती है। एक क्षण रुककर मेरा संदेशा प्रभु के पास नहीं ले जाती! आकाश में इतने अंगारे फैले हुए हैं। इनमें से कोई भी तो नीचे गिर जाता! यह चन्द्रमा भी ज्वालाओं से जल रहा है।

वह एक लपट नीचे की ओर फेंक दे तो मैं उस आग में जल जाऊँ ! क्या मैं इतनी अभागिनी हूँ कि चन्द्रमा की एक लपट भी पाने की अधिकारिणी नहीं ? वृक्ष 'अशोक' तुम्हीं मुझ पर दया करो। अपने नाम को सार्थक करते हुए मुझे भी 'अशोक' बना दो। मेरा शोक दूर कर दो। तुम्हारे नये-नये पत्ते आग की तरह लाल हैं। इन्हीं मे अग्नि-कण बरसा कर मेरे शरीर का अन्त कर दो। प्रभु, तुम्हारे विरह मे जलकर भी आज मैं जीवित हूँ ! मेरे जीवन को...... धिक्कार...है.. **(सिसकियां)**

[इस समय श्री हनुमानजी अशोक वृक्ष से श्रीराम की मुद्रिका नीचे गिरा देते हैं। मुद्रिका के गिरने का शब्द होता है।]

सीता— **(चौंककर)** यह कैसा शब्द ? क्या आकाश से कोई तारा गिरा या अशोक वृक्ष ने मेरे जलने के लिए अंगार डाल दिया है ? **(देखकर)** वैसी ही तो कुछ चमक है। देखूं, **(सीताजी उठकर मुद्रिका उठाती हैं।)** यह क्या ? यह तो मुद्रिका है ? यह मुद्रिका किसकी है...? अरे, इस पर तो प्रभु का नाम अंकित है ? ओह, यह मुद्रिका तो प्रभु की है...! किन्तु यह यहाँ कैसे ? यह यहाँ कैसे आई ? इसे कौन लाया ? यह तो प्रभु के हाथों में मैंने पहिनाई थी। उनसे कभी एक क्षण दूर नहीं हुई। फिर यह मुद्रिका यहाँ कैसे...? प्रभु, तुम कहाँ हो ! किसी शत्रु ने तो नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता ! यह नहीं हो सकता ! भगवान् को कौन जीत सकता है ? वे तो अजेय हैं फिर यह मुद्रिका...मुझे छलने के लिए किसी ने माया से तो इसे नहीं बना दी ? किन्तु माया से, त्रिभुवन की माया से यह बनाई भी कैसे जा सकती है ? नहीं, नहीं, यह मुद्रिका उन्हीं की है। मेरे प्रभु की है। मुद्रिके, बोल ! तू यहाँ कैसे आई ? प्रभु और

लक्ष्मण कुशलपूर्वक तो है ! तूने प्रभु को कैसे छोड़ दिया ? ओह, उन्हें सब छोड़ देते हैं ! नगर-लक्ष्मी ने उन्हें छोड़ दिया, वन के बीच में मैंने उन्हें छोड़ दिया और अब मेरी दिशा के मार्ग में तूने उन्हें छोड़ दिया ! अब आज से नारियों पर कौन विश्वास करेगा ? मेरे प्रभु की मुद्रिका....

[श्री सीताजी सिसकियां लेती है, इसी समय अशोक वृक्ष पर से श्री हनुमान के शब्द :]

रघुकुलमणि रामचन्द्र, दशरथ सुत रामचन्द्र, सीतापति रामचन्द्र, वानर-प्रिय-रामचन्द्र ।

सीता— (**आश्चर्य से चौंककर**) यह कौन ?

हनुमान— श्री रामचन्द्र के चरणांस्पर्श से अहल्या पवित्र हो गई । रामचन्द्र के हाथों से शिव-धनुष तिनके के समान टूट गया, श्री रामचन्द्र की कृपा से चित्रकूट भी साकेत बन गया, श्री रामचन्द्र की शक्ति से खरदूषण का विनाश हुआ, श्री रामचन्द्र की भक्त-वत्सलता से जटायु ने परम गति प्राप्त की, श्री रामचन्द्र के अनुग्रह से सुग्रीव ने अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त किया और श्री रामचन्द्र की कृपा से मुझे उनके चरणों की भक्ति ! (**कंठ गद्गद हो जाता है।**)

सीता— जिसने मेरे कानों में इस अमृत-वाणी की वर्षा की है वह मेरे सामने प्रकट हो ।

[अशोक वृक्ष से कूदकर श्री हनुमान श्री सीता जी के सामने आते हैं और प्रणाम करते है, श्री सीता जी आश्चर्य-चकित हो मुख फेर कर बैठ जाती है ।]

हनुमान— मातुश्री सीता ! मेरा सादर प्रणाम स्वीकार हो । मैं करुणा-निधान श्रीराम की शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं श्रीराम का दूत हनुमान हूँ । आप मुझसे मुख फेर कर न बैठें । मैं पुत्र की भांति आपके दर्शन करना चाहता हूँ, मैं ही यह मुद्रिका

लाया हूँ। प्रभु राम ने मुझे आपकी सेवा में भेजा है, आप मुझे श्रीराम का दूत मान लें, इसीलिये उन्होंने मुझे यह मुद्रिका देने की कृपा की।

सीता— नर और वानर का साथ कैसे संभव है ?

हनुमान— मातुश्री ! दुष्ट रावण ने जब आपका हरण किया तो आपने अपने कुछ वस्त्र और आभूषण नीचे फेंक दिये। वे वानरराज सुग्रीव को प्राप्त हुए। मैं वानरराज सुग्रीव का सहायक हूँ। जब लक्ष्मण सहित श्रीराम आपको खोजते हुए उस स्थान पर आये तो दोनों में मित्रता हुई। सुग्रीव की रक्षा के लिए श्रीराम ने उसके भाई बालि का वध किया, फिर सुग्रीव की सहायता से श्री राम ने आपकी खोज में असंख्य वानर भेजे। मैं ही इतना सौभाग्यशाली हूँ कि आज आपके चरणों के दर्शन कर रहा हूँ। मै राम-दूत हनुमान हूँ मातुश्री !

सीता— तुम्हारे वचनों पर मुझे विश्वास होता है। तुम मन, वचन और कर्म से प्रभु के दास हो। कहो, मेरे प्रभु कैसे हैं और वीर लक्ष्मण कैसे हैं ? मेरे प्रभु तो इतने कोमल हृदय हैं, करुणासिंधु हैं, उन्होंने कैसे इतनी निष्ठुरता की कि अभी तक नहीं आये ? क्या कभी वे मेरा स्मरण करते हैं ? उन्होंने मुझे बिलकुल ही भुला दिया ! हाय उन्होंने मुझे बिलकुल भुला दिया !

हनुमान— नहीं, मातुश्री ! वे आपको कभी नहीं भूल सके। वे तो आपका सदैव स्मरण करते हैं। वे सब तरह से कुशल हैं, यदि उन्हें दुःख है तो केवल आपका ही दुःख है। वीर लक्ष्मण भी सकुशल हैं। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। आपके प्रति प्रभु राम के हृदय में जो प्रेम है, उसकी थाह नहीं ली जा सकती।

सीता— क्या कभी मेरे नेत्र उनके सुन्दर श्याम शरीर को देखकर शीतल होंगे ? ओह, मैं कितनी अभागिनी हूँ !

हनुमान— मातुश्री, प्रभु राम जिनका स्मरण करते रहते हैं, उनके लिए

अभाग्य कैसा। दुष्ट रावण का सिर काटने के लिए श्री राम के तरकस में बाण कसकने लगे हैं। श्री राम ने इस दिशा में प्रस्थान कर दिया है। शीघ्र ही यह दुःख का अंधकार दूर होगा। प्रभु राम की कृपा का सूर्य उदय हो चला है। आप कुछ दिन और धैर्य धारण करें, कपि-सेना के साथ श्री राम यहाँ आवेंगे और रावण को मार कर आपका उद्धार करेंगे।

सीता— (**आनन्द विह्वल होकर**) प्रभु मेरा उद्धार करेंगे! मेरा उद्धार करेंगे! ओह, आज मैं कितनी सुखी हूँ, प्रभु! आज मैं तुम्हारे आने के समाचार से कितनी सुखी हूँ!

[इसी समय प्रभात का मंगल वाद्य और समय की सूचना बजती है।]

सीता— (**प्रसन्नता से**) प्रभात की इस मंगल वेला में, प्रभात की इस मंगल ध्वनि में, मेरी मंगल-कामना सफल हो....! मेरे प्रभु की जय हो!

[मंगल वाद्य बजते बजते वायु में लीन हो जाता है।]
